प्रेमचन्द

प्रेमचन्द

प्रेमचन्द

डा० रामबक्ष

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्
National Council of Educational Research and Training

आमुख

भारतीय साहित्य के इतिहास में प्रेमचन्द का बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। वे आधुनिक भारत के उन महान् कथाकारों में से थे, जिन्होंने अपने साहित्य में भारतीय ग्रामीण जीवन का सजीव चित्र प्रस्तुत किया। साथ ही उन्होंने अपने लेखन का सीधा सम्बन्ध जन-जीवन के साथ स्थापित किया, जिससे भारतीय साहित्यिक परम्परा में एक नए युग का प्रारम्भ हुआ। प्रेमचन्द ने अपने लेखन तथा अन्य गतिविधियों द्वारा स्वतन्त्रता के संघर्ष में भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की।

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् के तत्त्वावधान में समय-समय पर किशोरों के लिए विभिन्न प्रकार की पूरक पाठ्यपुस्तकों का प्रकाशन होता रहा है, जिससे बालकों को विज्ञान एवं अन्य विषयों के विकास की अद्यतन जानकारी प्राप्त होती है। साथ ही उनको भारतीय संस्कृति के विभिन्न पहलुओं तथा साहित्यिक एवं कलात्मक विरासत की भी जानकारी मिलती है। इन पूरक पाठ्यपुस्तकों द्वारा बालकों को प्रख्यात विद्वानों, वैज्ञानिकों, राष्ट्रीय महापुरुषों, धार्मिक व्यक्तियों, समाज-सुधारकों एवं लेखकों के जीवन तथा कार्यों का सम्यक ज्ञान भी प्राप्त होता है।

परिषद् द्वारा अब तक अमीर ख़ुसरो, मिर्ज़ा ग़ालिब, इक़बाल, सुब्रह्मण्य भारती, श्री अरविन्द आदि पर पुस्तकों का प्रकाशन हो चुका है। परिषद् ने प्रेमचन्द की जन्म शताब्दी के अवसर पर उनकी याद में इस पुस्तक को प्रकाशित करने की योजना बनाई। परिषद् भारत के उस यशस्वी सपूत की यादगार में यह श्रद्धा-सुमन अर्पित कर रही है, जिसने इस देश की जनता को नवजागरण का संदेश दिया।

महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक (हरियाणा) के हिन्दी विभाग के डॉ० रामबक्ष ने प्रस्तुत पुस्तक को लिखा है। मैं इनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के भारतीय भाषा केन्द्र के प्रो० नामवर सिंह और दिल्ली विश्वविद्यालय के प्रो० क़मर रईस के प्रति मैं अत्यन्त आभारी हूँ, जिनके निर्देशन में प्रेमचन्द पर हिन्दी, उर्दू एवं अंग्रेजी में पुस्तकें तैयार हुईं।

परिषद् के सहकर्मियों, मुख्य रूप से कुमारी एस० के० राम, श्री निरंजनकुमार सिंह, श्री अर्जुन देव, डॉ० रामजन्म शर्मा एवं श्री मुजतबा हुसैन के प्रति भी आभार प्रकट करना मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ, जिन्होंने प्रेमचन्द से सम्बन्धित हिन्दी, उर्दू एवं अंग्रेजी की पांडुलिपियाँ तैयार कराने में विशेष सहयोग प्रदान किया।

परिषद् भारत सरकार के प्रकाशन विभाग के निदेशक और श्री राजनारायण 'राज़' की भी आभारी है जिनके सहयोग से हमें प्रेमचन्द से सम्बन्धित कुछ दुर्लभ चित्र प्राप्त हो सके।

हमें आशा है कि प्रेमचन्द जन्म शताब्दी के अवसर पर प्रकाशित इस पुस्तक के साथ ही उर्दू एवं अंग्रेजी में प्रकाशित पुस्तकों का भी स्वागत होगा।

नई दिल्ली
सितम्बर 1981

शिवकुमार मित्र
निदेशक
राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण
परिषद्

विषय-सूची

1. ऐतिहासिक पृष्ठभूमि 1
2. जीवन चरित 3
3. रचना संसार 27
4. भारतीय किसान 46
5. साम्प्रदायिकता विरोधी संघर्ष 53
6. अछूतों की समस्या 59
7. नारी मुक्ति का सवाल 63
8. राष्ट्रभाषा और राष्ट्रीय साहित्य 67
9. पत्रकारिता : 'हंस' और 'जागरण' 72
10. प्रेमचन्द की विरासत 77

1

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

प्रेमचन्द आधुनिक हिन्दी साहित्य के शीर्षस्थ रचनाकार हैं। आधुनिक भारतीय साहित्य में प्रेमचन्द का नाम इक़बाल, रवीन्द्रनाथ टैगोर, सुब्रह्मण्य भारती के साथ लिया जाता है। इन रचनाकारों में प्रेमचन्द का सम्बन्ध यथार्थवादी परम्परा के साथ है। हिन्दी साहित्य में प्रेमचन्द उन थोड़े-से रचनाकारों में से हैं, जिनकी रचनाओं का विश्व की अन्य भाषाओं में भी सम्मान होता है। विश्व साहित्य में प्रेमचन्द हिन्दी और भारतीय साहित्य का प्रतिनिधित्व करते हैं। उनकी रचनाओं का अनुवाद जापानी, रूसी, जर्मन, फ्रेंच, अंग्रेजी, चीनी आदि भाषाओं में हुआ है।

प्रेमचन्द के आगमन से पूर्व भारत के राजनीतिक आकाश में राष्ट्रीयता की खोज का कार्य आरम्भ हो चुका था। प्रथम स्वाधीनता आन्दोलन (1857-58) के बाद एक तरफ भारत में अंग्रेजी साम्राज्य स्थायित्व ग्रहण करने लगा था, दूसरी तरफ शिक्षित भारतीयों में देश प्रेम की भावनाएँ पनपने लग गयी थीं। सन् 1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना से यह राष्ट्रीयता मूर्त होने लगी। कांग्रेस के आरम्भिक नेताओं में सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, दादा भाई नौरोजी, गोपाल कृष्ण गोखले, बाल गंगाधर तिलक आदि मुख्य थे। सन् 1905 तक कांग्रेस ने अंग्रेजों के विरुद्ध आन्दोलन नहीं चलाया था, फिर भी वह लगातार भारतीय जनता की माँगों को अंग्रेजों के समक्ष प्रस्तुत करती रही।

इसके साथ-साथ देश में सामाजिक और धार्मिक सुधार के अनेक आन्दोलन चल रहे थे। उस समय के समाज-सुधारकों में, स्वामी रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द और दयानन्द सरस्वती महत्त्वपूर्ण थे। इन लोगों ने तत्कालीन भारत के अध:पतन के कारणों की खोज की, और इनकी जड़ें भारतीय समाज के सामाजिक जीवन में देखीं। इन लोगों ने इस अध:पतन को दूर करने के लिए

आन्दोलन चलाए। अभी तक राष्ट्रीय आन्दोलन और समाज सुधार आन्दोलन में एकता स्थापित नहीं हो पायी थी। बीसवीं सदी में ये दोनों धाराएँ एकमेक हो गयीं।

साहित्यिक जगत में तब तक आधुनिक साहित्य के निर्माण का कार्य आरम्भ हो चुका था। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र आधुनिक हिन्दी साहित्य के जनक माने जाते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भारतेन्दु के ऐतिहासिक महत्त्व को रेखांकित करते हुए लिखा है कि उन्होंने साहित्य को नवीन मार्ग दिखाया और उसे शिक्षित जनता के साहचर्य में लाये। नयी शिक्षा के प्रचार से लोगों की विचार-धारा तो बदल चली थी, लेकिन हिन्दी साहित्य भक्ति और श्रृंगार रस में ही डूबा हुआ था। भारतेन्दु साहित्य की इस धारा को मोड़कर उसे पुनः जीवन के जीवन्त सम्पर्क में ले आये।

प्रेमचन्द से पूर्व हिन्दी-उर्दू में उपन्यास रचना का कार्य शुरू हो चुका था। हिन्दी में श्रद्धाराम फिल्लौरी का 'भाग्यवती' (1877 ई०), लाला श्रीनिवासदास का 'परीक्षा गुरु' (1822), पं० बालकृष्ण भट्ट का 'नूतन ब्रह्मचारी' (1886), देवकीनन्दन खत्री का 'चन्द्रकांता' (1866) उपन्यास प्रकाशित हो चुके थे। उस युग में उपन्यास की दो प्रमुख धाराएँ थीं—तिलिस्मी-जासूसी और सामाजिक। उर्दू में पं० रतननाथ सरशार का 'फसाना-ए-आजाद', मिर्जा रुसवा का 'उमराव-जान अदा' और एक बृहद तिलिस्मी ग्रंथ 'तिलिस्म-ए-होशरुबा' जैसे ग्रंथों की धूम थी। ऐसे ही समय में प्रेमचन्द का आगमन होता है।
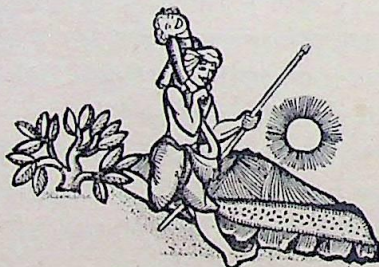
2

जीवन चरित

प्रेमचन्द का जन्म 31 जुलाई 1880 ई० को बनारस के पास लमही नामक गाँव के साधारण कायस्थ परिवार में हुआ। पिता का नाम था मुंशी अजायब लाल और माता का आनंदी देवी। पिता डाकखाने में मुंशी थे। बचपन में प्रेमचन्द के दो नाम रखे गये। पिता ने उनका नाम धनपत राय रखा और चाचा ने नवाबराय। स्कूल में प्रेमचन्द का नाम धनपत राय श्रीवास्तव लिखवाया गया। प्रेमचन्द ने नवाबराय नाम से लिखना शुरू किया। बाद में उन्होंने यह नाम भी छोड़ दिया और प्रेमचन्द नाम अपनाया, जिससे वे आज भी जाने जाते हैं।

कहते हैं कि प्रेमचन्द बचपन में बहुत शरारती थे। शरारत करने के लिए भी प्रतिभा की जरूरत होती है। शरारती बच्चा अपनी दिलचस्पी के सामान स्वयं जुटा लेता है। प्रेमचन्द ने एक बार खेल खेल में एक बच्चे का कान काट डाला, जिससे वह लहूलुहान हो गया। उसकी माँ ने प्रेमचन्द की माँ से शिकायत की तो प्रेमचन्द ने कहा, "मैंने उसके कान नहीं काटे, बल्कि बाल बनाये हैं।"

बचपन मनुष्य के लिए मादक स्मृतियों का भंडार छोड़ जाता है। प्रेमचन्द ने 'चोरी' नामक कहानी में अपने बचपन को याद करते हुए लिखा है, "हाय बचपन, तेरी याद नहीं भूलती। वह कच्चा, टूटा घर, वह पुआल का बिछौना, वह नंगे बदन, नंगे पाँव खेतों में घूमना ! आम के पेड़ों पर चढ़ना—सारी बातें आँखों के सामने फिर रही हैं।"

बचपन में प्रेमचन्द को कहानी सुनने का बहुत शौक था। भारतीय बच्चों को दादी या नानी कहानियाँ सुनाया करती हैं। वे बच्चे बहुत भाग्यशाली होते हैं जिनके दादी या नानी होती हैं और जो उन्हें लोक कथाएँ सुनाती हैं। प्रेमचन्द इस अर्थ में बहुत भाग्यशाली थे। उन्हें न केवल दादी ने
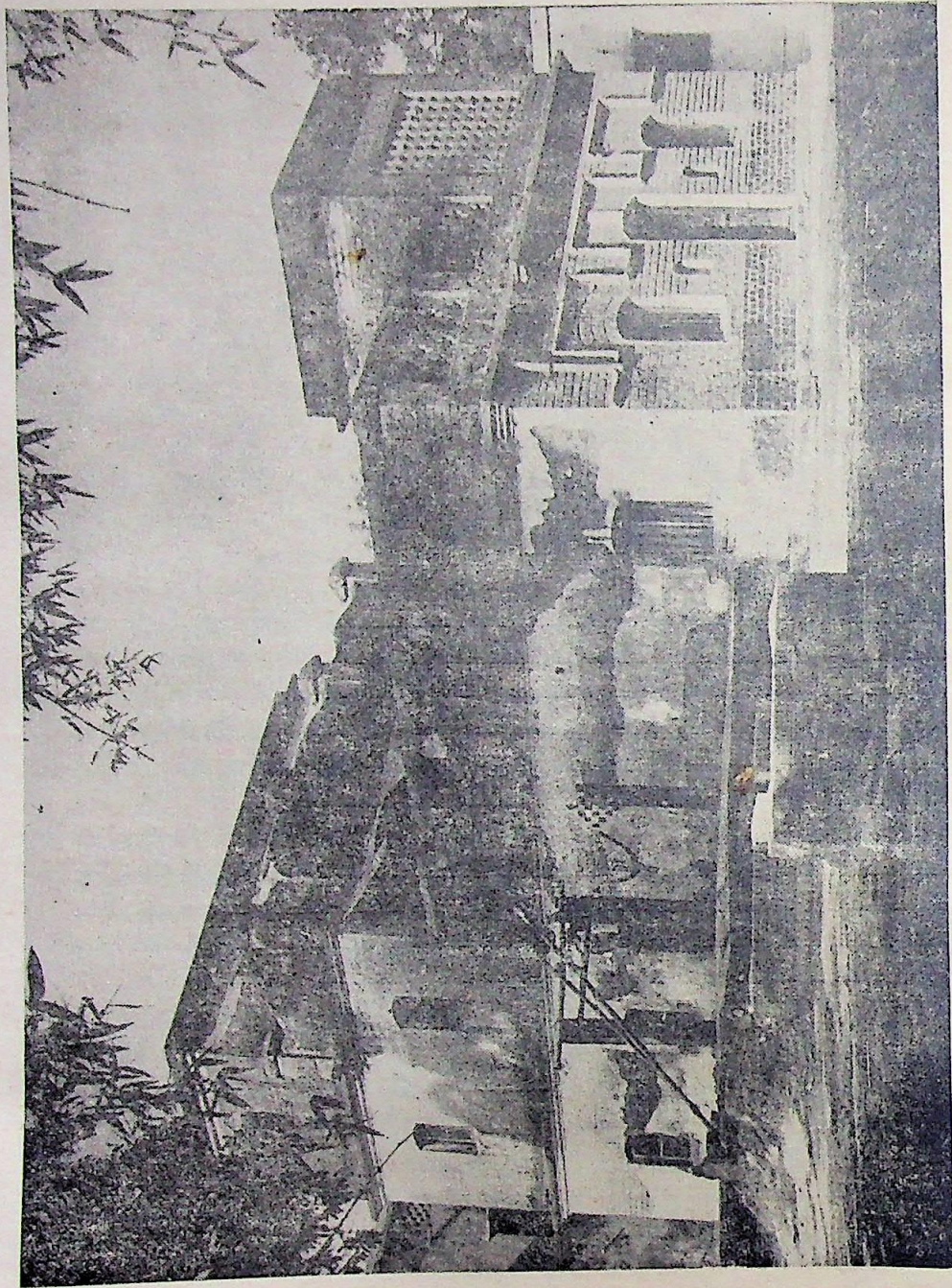
प्रेमचन्द ने मँड़हवा लमही में सन् 1930 के आसपास यह मकान बनवाया था। उनका जन्म पास के ही एक और मकान में हुआ था।

कहानियाँ सुनायीं बल्कि कज़ाकी नामक हरकारे ने भी अनेक प्रचलित कथाएँ सुनायीं। साहित्यकार प्रेमचन्द के मन पर इन कथाओं का बहुत प्रभाव पड़ा।

प्रेमचन्द ने आठ वर्ष की उम्र में मदरसा जाना शुरू किया। उनकी आरम्भिक शिक्षा उर्दू-फ़ारसी में हुई। एक मौलवी साहब मदरसा चलाते थे। मौलवी साहब दर्जी थे, मौलवीगिरी तो वह शौक से करते थे। उनके पढ़ाने में 'रटने' की भूमिका सर्वोपरि थी। गणित के पहाड़े और फ़ारसी की कविताएँ रट लेने में ही विद्यार्थी की क्षमता मापी जाती थी। इस शिक्षा-पद्धति में बच्चों की बुद्धि के विकास की ओर ध्यान नहीं दिया जाता था। यहाँ तक कि शिक्षक की नजर सौगातों पर ज्यादा रहती थी और बच्चे के विकास पर कम। ऐसी शिक्षा से किसी भी बालक को अरुचि हो सकती है। प्रेमचन्द में भी यह अरुचि आयी। पहाड़ा रटने से ज्यादा आनन्ददायक चीजें दूसरी थीं। "कभी तो थाने के सामने खड़े सिपाहियों की कवायद देखते, कभी किसी भालू या बन्दर नचाने वाले मदारी के पीछे-पीछे घूमने में दिन काट देते, कभी रेलवे स्टेशन की ओर निकल जाते और गाड़ियों की बहार देखते। गाड़ियों के समय का जितना ज्ञान उनको था उतना शायद टाइम टेबिल को भी न था।" प्रेमचन्द कई-कई दिनों तक स्कूल से गैरहाजिर रहते। मौलवी साहब को वैसे तो पता ही नहीं चलता। अगर कभी उन्हें क्रोध आता तो कभी सेरभर मटर की फली, दस-पाँच ऊख या ऐसी ही कोई चीज भेंट कर देते और मौलवी साहब का क्रोध शान्त हो जाता।

प्रेमचन्द को मिठाइयाँ और गुड़ खाने का बहुत शौक था। 'होली की छुट्टी' में उन्होंने गुड़ की चोरी की एक दिलचस्प घटना का बयान किया है। कहानी में माँ मैके जाती है। माँ ने एक मन गुड़ खरीद कर उसे मटके में बन्द कर दिया और उनके लिए थोड़ा-सा गुड़ हाँडी में निकाल दिया। "वह हाँडी मैंने एक हफ्ते में सफाचट कर दी। सुबह को दूध के साथ गुड़, दोपहर को रोटियों के साथ गुड़, तीसरे पहर दानों के साथ गुड़, रात को फिर दूध के साथ गुड़। यहाँ तक जायज खर्च था, जिस पर अम्मा को भी कोई एतराज न हो सकता। मगर स्कूल से बार-बार पानी पीने के बहाने घर में आता और दो-एक पिण्डियाँ निकाल कर खा लेता। उसकी बजट में कहाँ गुंजाइश थी! और मुझे गुड़ का कुछ ऐसा चस्का पड़ गया कि हर वक्त वही नशा सवार रहता। मेरा घर में आना गुड़ के सिर शामत आना था। एक हफ्ते में हाँडी ने जवाब दे दिया। मगर मटका खोलने की कड़ी मनाही थी और अम्मा के घर आने में अभी पौने तीन महीने बाकी थे। एक दिन तो मैंने बड़ी मुश्किल से जैसे-तैसे सब्र किया लेकिन दूसरे दिन एक आह के साथ सब्र जाता रहा।" मन में अन्तर्द्वन्द्व लगातार चलता रहा। हार कर उन्होंने चाबी दीवार की सन्धि में डाली, लेकिन फिर निकाल ली, फिर कुएँ में डाल दी लेकिन मन न माना और वह सारा गुड़ खा गये और माँ से मटके के चोरी हो जाने की कथा गढ़कर बयान कर दी। इसी तरह प्रेमचन्द ने अपने चचेरे भाई के साथ एक बार एक रुपया चुराया। इस चोरी का कैसे पता चला और भाई की कैसे पिटाई हुई, और प्रेमचन्द ने कैसे-कैसे बहाने गढ़कर अपने आपको बचाया इसका रोचक वर्णन उन्होंने 'चोरी' नामक कहानी में किया है।
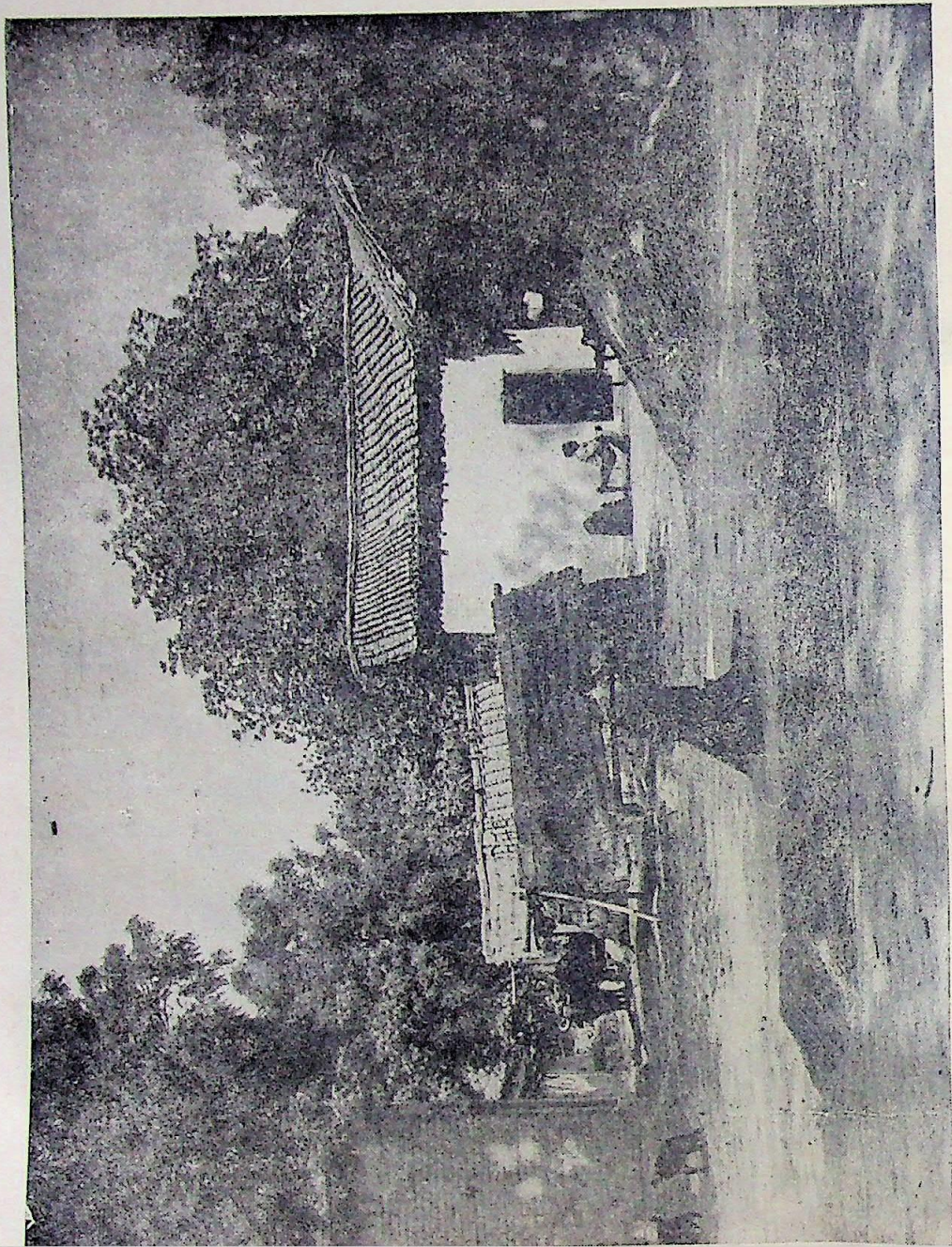
ग्राम लमही का एक दृश्य। इसी तरह के एक मकान में प्रेमचन्द का जन्म हुआ।

प्रेमचन्द की माँ संग्रहणी की मरीज थीं । आठवें वर्ष की उम्र में वे बीमार पड़ीं और चल बसीं । प्रेमचन्द को मौत की भयानकता का एहसास नहीं था । सभी लोग रो रहे थे, प्रेमचन्द इसका कारण नहीं समझ पा रहे थे । कई दिनों तक तो दादी और बहन के स्नेह की छाँव में प्रेमचन्द पलते रहे । पिता जी भी कभी-कभी पैसे दे देते थे । दो बरस बाद पिता ने दूसरी शादी कर ली और तब प्रेमचन्द को माता के देहान्त का अर्थ समझ में आया । विमाता के साथ प्रेमचन्द की पटी नहीं । विमाता उनकी शरारतों को क्षमा की नजर से नहीं देखती थीं, जिसके प्रेमचन्द आदी हो गए थे ।

लोक कथाओं के अथाह भंडार का आस्वाद लेने के साथ-साथ बचपन में ही प्रेमचन्द का सम्पर्क नयी पुस्तकीय दुनिया से हो गया था । प्रेमचन्द ने स्वयं लिखा है, "इस वक्त मेरी उम्र कोई तेरह साल की रही होगी । हिन्दी बिलकुल न जानता था । उर्दू के उपन्यास पढ़ने का उन्माद था । मौलाना शरर, पं० रतननाथ सरशार, मिर्ज़ा रुसवा, मौलवी मुहम्मदअली हरदोई निवासी उस वक्त के सर्वप्रिय उपन्यासकार थे । इनकी रचनाएँ जहाँ मिल जाती थीं, स्कूल की याद भूल जाती थी और पुस्तक समाप्त करके ही दम लेता था । उस जमाने में रेनाल्ड के उपन्यासों की धूम थी । उर्दू में अनेक अनुवाद धड़ाधड़ निकल रहे थे और हाथों हाथ बिकते थे । मैं भी उनका आशिक था । स्व० हजरत रियाज ने, जो उर्दू के प्रसिद्ध कवि हैं और जिनका हाल में देहान्त हुआ है, रेनाल्ड की एक रचना का अनुवाद 'हरमसरा' के नाम से किया था । उसी जमाने में लखनऊ के साप्ताहिक 'अवध पंच' के सम्पादक स्व० मौलाना सज्जाद हुसैन ने, जो हास्य रस के अमर कलाकार थे, रेनाल्ड के दूसरे उपन्यास का अनुवाद 'धोखा या तिलिस्मी फानूस' के नाम से किया था । ये सभी पुस्तकें मैंने उस जमाने में पढ़ीं । और पं० रतननाथ सरशार से तो मुझे तृप्ति ही न होती थी । उनकी सारी रचनाएँ मैंने पढ़ डालीं । उन दिनों मेरे पिता गोरखपुर में रहते थे और मैं भी वहीं के मिशन स्कूल में आठवीं में पढ़ता था, जो तीसरा दरजा कहलाता था । रेती पर एक बुकसेलर बुद्धिलाल नाम का रहता था । मैं उसकी दूकान पर जा बैठता था और उसके स्टाक से उपन्यास ले लेकर पढ़ता था, मगर दूकान पर सारे दिन तो बैठ न सकता था, इसलिए मैं उसकी दूकान से अंग्रेजी पुस्तकों की कुंजियाँ और नोट्स ले कर अपने स्कूल के लड़कों के हाथ बेचा करता था और इसकी एवज में उपन्यास दूकान से घर लाकर पढ़ता था । दो-तीन वर्षों में सैकड़ों ही उपन्यास पढ़ डाले होंगे । जब उपन्यास का स्टाक समाप्त हो गया, तो मैंने नवलकिशोर प्रेस से निकले हुए पुराणों के उर्दू अनुवाद भी पढ़े, और 'तिलिस्म-ए-होशरुबा' के कई भाग भी पढ़े । इस बृहद तिलिस्मी ग्रंथ के सत्रह भाग उस वक्त निकल चुके थे और एक-एक भाग बड़े सुपर रायल आकार के दो-दो हजार पृष्ठों से कम न होगा । और इन सत्रह भागों के उपरान्त उसी पुस्तक के अलग-अलग प्रसंगों पर पचासों भाग छप चुके थे । इनमें से भी मैंने कई पढ़े । जिसने इस बड़े ग्रंथ की रचना की, उसकी कल्पना शक्ति कितनी प्रबल होगी, इसका केवल अनुमान किया जा सकता है । कहते हैं, ये कथाएँ मौलाना फैजी ने अकबर के विनोदार्थ फ़ारसी में लिखी थीं । इसमें कितना सत्य है, कह नहीं सकता, लेकिन

इतनी बृहद् कथा शायद ही संसार की किसी भाषा में हो । पूरी इंसाइक्लोपीडिया समझ लीजिए । एक आदमी तो अपने साठ वर्ष के जीवन में उनकी पूरी नकल भी करना चाहे, तो नहीं कर सकता । रचना तो दूसरी बात है ।"

प्रेमचन्द का बचपन बहुत आर्थिक तंगी में बीता । उनके पिता की बार-बार बदलियाँ होती रहीं । कई बार प्रेमचन्द उनके साथ गये और कभी लमही में ही रहे । प्रेमचन्द की रुचि पाठ्यक्रम से इतर पुस्तकों की ओर ज्यादा थी, फिर भी वह पढ़ने में कमजोर नहीं थे । गोरखपुर से आठवीं कक्षा पास करके प्रेमचन्द लमही में आ गये और नवीं कक्षा में क्वींस कॉलेज, बनारस में भर्ती हुए । पिता ने पाँच रुपये महीने का खर्चा देना स्वीकार किया । "पाँव में जूते न थे । देह पर साबित कपड़े न थे । महँगी अलग । दस सेर के जौ थे । स्कूल से साढ़े तीन बजे छुट्टी मिलती थी । काशी के क्वींस कॉलेज में पढ़ता था । हेडमास्टर ने फीस माफ कर दी थी । इम्तिहान सर पर था और मैं बाँस के फाटक एक लड़के को पढ़ाने जाता था । जाड़ों के दिन थे । चार बजे पहुँचता था । पढ़ाकर छः बजे छुट्टी पाता । वहाँ से मेरा घर देहात में पाँच मील पर था । तेज चलने पर भी आठ बजे से पहले घर न पहुँच सकता । और प्रातः काल आठ ही बजे फिर घर से चलना पड़ता था, नहीं तो वक्त पर स्कूल न पहुँचता । रात को खाना खाकर कुप्पी के सामने पढ़ने बैठता और न जाने कब सो जाता । फिर भी हिम्मत बाँधे हुए था ।" ऐसी कठिन परिस्थितियों में प्रेमचन्द ने हिम्मत न हारी और लगातार पढ़ते रहे ।

इस बीच प्रेमचन्द की शादी कर दी गयी । इस पत्नी से प्रेमचन्द की बनी नहीं । उनके स्वभाव और उम्र में बहुत अन्तर था । प्रेमचन्द की सौतेली माँ और उनकी पत्नी में झगड़ा चलता रहता था । अन्त में प्रेमचन्द ने उसे छोड़ दिया । वह बहुत दिनों तक जीवित रही और अपने भाइयों के साथ उसने अपना शेष जीवन बिताया । प्रेमचन्द की शादी के डेढ़ वर्ष के बाद उनके पिता की (जो संग्रहणी के मरीज थे) मृत्यु हो गयी । इस वर्ष यानी 1897 ई० में प्रेमचन्द को मैट्रिक की परीक्षा देनी थी, लेकिन पिता की मृत्यु के कारण दे नहीं पाये । अगले वर्ष वह परीक्षा में बैठे और द्वितीय श्रेणी में उत्तीर्ण हुए । प्रेमचन्द घर के सबसे बड़े पुरुष थे । घर की जिम्मेदारी के अलावा उनके मन में आगे पढ़ने का विचार भी था । बहुत प्रयास करने के बाद भी गणित में कमजोर होने के कारण आगे नहीं पढ़ पाये । यह समय प्रेमचन्द का आर्थिक संकट में गुजरा । उन्होंने स्वयं लिखा है, "जाड़ों के दिन थे । पास एक कौड़ी न थी । दो दिन एक-एक पैसे का चबैना खाकर काटे थे । मेरे महाजन ने उधार देने से इन्कार कर दिया था या संकोचवश मैं उससे माँग न सका था । चिराग जल चुके थे । मैं एक बुकसेलर की दूकान पर एक किताब बेचने गया । चक्रवर्ती गणित की कुंजी थी । दो साल हुए खरीदी थी । अब तक उसे बड़े जतन से रखे हुए था, पर आज चारों ओर से निराश होकर, मैंने उसे बेचने का निश्चय किया । किताब दो रुपये की थी, लेकिन एक पर सौदा ठीक हुआ ।" प्रेमचन्द किताब बेचकर बाहर निकल रहे थे, कि वहीं बैठे एक सज्जन ने उनसे बात-

चीत की, शैक्षणिक योग्यता पूछी और नौकरी करने की इच्छा जाननी चाही। प्रेमचन्द तुरन्त तैयार हो गये। यह वर्ष 1899 ई० की बात है, जब प्रेमचन्द सहायक अध्यापक बने। उनका वेतन 18 रुपये मासिक तय हुआ। उन्होंने लिखा है कि "अट्ठारह रुपये उस समय मेरी निराशा व्यथित कल्पना में ऊँची-से-ऊँची उड़ान से भी ऊपर थे।"

प्रेमचन्द के बचपन का उनके साहित्य पर गहरा प्रभाव पड़ा है। उनके बचपन में अनुभव और कल्पना की दूरी रही है। चिंतन और कल्पना में सुन्दर राजकुमारियाँ होतीं, घोड़े पर सजे बाँके राजकुमार होते, साहसी जासूस होते, जबकि जीवन में पीड़ित विधवा मिलती, जेठ की तपती दुपहरी में काम करता हुआ भारतीय किसान दिखाई देता। उनका साहित्य इस बेचैनी से शुरू होता है और समस्या की तह तक जाना चाहता है। काल्पनिक जगत में उन्हें भावनात्मक शक्ति और रचनात्मक प्रेरणा मिल रही थी। वास्तविक जगत ने प्रेमचन्द को संघर्षशील और कर्मठ बनाया। इसके अलावा बचपन में पढ़े गये जासूसी उपन्यासों की संरचना और रचना शैली का भी उन पर गहरा प्रभाव पड़ा है। उनकी कहानियों की आरम्भिक 'समस्या' और आखिरी 'हल' निहायत जासूसी उपन्यासों की ही भाँति होता है। उन्होंने मानव जीवन को एक बड़े भारी तिलिस्म के रूप में सर्जित किया और उसी की चाबियाँ बनाने में लगे रहे। लिखने की यह पद्धति 'बूढ़ी काकी', 'आत्माराम', में ही नहीं, 'कफन' और 'गोदान' में भी है।

'सोज़े वतन' के दिन

बीसवीं शताब्दी की शुरुआत के साथ ही प्रेमचन्द ने जीवन में उत्तरदायित्व संभाल लिया था। मैट्रिक पास करने के बाद वह मिशन स्कूल, चुनार में सहायक अध्यापक हो गये थे। यहाँ से 2 जुलाई 1900 ई० को गवर्नमेंट डिस्ट्रिक्ट स्कूल, बहराइच में अध्यापक हुए, इसके कुछ दिन बाद प्रतापगढ़ चले गये। यहीं से वह जुलाई 1902 में अध्यापकी की ट्रेनिंग के लिए इलाहाबाद गये। उनकी 'जूनियर सर्टिफिकेटेड टीचर' की उपाधि पर लिखा हुआ था : "गणित पढ़ाने की योग्यता नहीं रखते। चाल-चलन सन्तोषजनक है और समय के पाबन्द हैं। धनपतराय ने अपना काम खूब मेहनत से और अच्छी तरह किया है।" ट्रेनिंग के कुछ महीनों बाद वह मॉडल स्कूल, इलाहाबाद में हेडमास्टर बन गये और यहीं से तीन महीने बाद कानपुर गये। इसी दौरान उन्होंने 1904 ई० में उर्दू और हिन्दी में स्पेशल वर्नाक्यूलर परीक्षा पास की।

प्रेमचन्द की पहली रचना उपलब्ध नहीं है। प्रेमचन्द ने लिखा है कि स्कूल में पढ़ते समय वह रचनाएँ लिख कर फाड़ डालते थे। उनकी पहली उपलब्ध रचना 'आलिवर क्रॉमवेल' (1903) की जीवनी है। इसके बाद 'असरारे मआबिद' (1903-1905), 'हम खुर्मा और हम सवाब' (1906 ई०) नामक दो उपन्यास मिलते हैं। उनकी पहली कहानी 'दुनिया का सबसे अनमोल रतन'

(1907 ई०) है।

प्रेमचन्द ने व्यापक राष्ट्रीय जागरण के काल में साहित्य की रचना की है। उनकी रचनाओं पर न केवल इस जागरण का प्रभाव है, बल्कि इसकी सफल अभिव्यक्ति भी उनमें मिलती है। प्रेमचन्द के जन्म के 5 वर्ष बाद अर्थात् 1885 ई० में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का जन्म हुआ और 9 वर्ष बाद अर्थात् 1889 ई० में पं० जवाहर लाल नेहरू का जन्म हुआ। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के प्रथम अखिल भारतीय राजनैतिक आन्दोलन (1905 ई० का स्वदेशी और बायकाट आन्दोलन) से कम से कम 5 वर्ष पहले से ही प्रेमचन्द साहित्य क्षेत्र में उतर चुके थे और गांधी जी और पंडित नेहरू के भारतीय राजनीति में प्रवेश करने से बहुत पहले प्रेमचन्द साहित्य में प्रतिष्ठित हो चुके थे। बंगभंग के समय प्रेमचन्द 25 वर्ष के नौजवान थे और कानपुर जैसे राजनीतिक दृष्टि से जागरूक शहर में निवास कर रहे थे। इस समय प्रेमचन्द नवाबराय के नाम से उर्दू में साहित्य-सर्जन कर रहे थे।

उस समय भारतीय राष्ट्रीय जागरण की तीन मुख्य धाराएँ चल रही थीं। इन तीनों ने समकालीन भारत के अध:पतन के कारणों का अलग-अलग तरीके से विवेचन ही नहीं किया, बल्कि इस जागरण के कार्य और स्वरूप को भी अलग-अलग ढंग से परिभाषित किया। कुछ लोग इस जागरण को धार्मिक जागरण के रूप में देख रहे थे। उनके अनुसार समकालीन अध:पतन की शुरुआत भारत में मुस्लिम साम्राज्य की स्थापना से होती है। उनकी दृष्टि में मुस्लिम और अंग्रेज—दोनों विदेशी हैं और दोनों के विरुद्ध संघर्ष करके ही हिन्दू सभ्यता अतीत के गौरव को पुन: प्राप्त कर सकती है। ये लोग पुनरुत्थानवादी कहलाये। इन्होंने आगे चलकर साम्प्रदायिक संगठन बनाये और साम्प्रदायिक संघर्षों में ज्यादा रुचि दिखायी। प्रेमचन्द ने इनका विरोध किया। कुछ लोग इस जागरण को सामाजिक जागरण मानते थे। इन्होंने सामाजिक रूढ़ियों और धार्मिक परम्पराओं को हमारे पतन का कारण बताया और इनको दूर करने में ही अपनी शक्ति खर्च की। राजा राममोहन राय से लगाकर आर्य समाज तक के अधिकांश बुद्धिजीवियों ने इस प्रकार के कार्य किये। प्रेमचन्द के आरम्भिक उपन्यासों में इस धारा का प्रभाव देखने को मिलता है। ये लोग धार्मिक लोगों के विचारों के ज्यादा करीब थे। हालाँकि इनके कार्यों का राजनीतिक प्रभाव पड़ा। इसी राजनीतिक प्रभाव के कारण इनका विशेष महत्त्व है। कुछ लोग इस जागरण को राष्ट्रीय जागरण के रूप में देखते थे। उन्होंने सारी बुराइयों की जड़ अंग्रेजी राज में देखी। इसीलिए उन्होंने सभी धर्मों, जातियों और वर्गों के लोगों को अंग्रेजों के विरुद्ध संगठित किया। प्रेमचन्द इन्हीं राष्ट्रवादी बुद्धिजीवियों में से एक थे। उन्होंने धर्म निरपेक्ष जनतांत्रिक और राष्ट्रीय शक्तियों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर साहित्यिक मोर्चे पर काम किया।

कांग्रेस में उस समय गरम दल और नरम दल के नेताओं में संघर्ष चल रहा था। गोपाल कृष्ण गोखले और बाल गंगाधर तिलक दोनों दलों के प्रवक्ता थे। प्रेमचन्द की सहानुभूति गरम दलीय तिलक के साथ थी। उन्होंने भावुक देश प्रेम से ओतप्रोत कहानियाँ इस समय लिखीं। हालाँकि

सामाजिक जागरण का प्रभाव भी इन दिनों प्रेमचन्द पर काम कर रहा था। इसी कारण उन्होंने अपनी दूसरी शादी बाल विधवा शिवरानी देवी से 1906 ई० में की। इस शादी में परिवार के व्यक्तियों ने भाग नहीं लिया। प्रेमचन्द 1905 ई० से जून 1908 ई० तक कानपुर में रहे। यही समय था जब तिलक ने नारा दिया, "स्वराज्य हमारा जन्म सिद्ध अधिकार है।" इसी समय देश में क्रांतिकारी आन्दोलन चल रहा था, सरकारी दमन भी बढ़ रहा था। 11 अगस्त 1908 को 19 वर्षीय क्रांतिकारी खुदीराम बोस को अंग्रेजी सरकार ने फाँसी दे दी। प्रेमचन्द का देशप्रेमी दिल तड़प उठा। उन्होंने 'सोज़े वतन' (1909 ई०) के नाम से एक कहानी-संग्रह प्रकाशित करवाया। इसमें देशप्रेम के भावों की भावुक ललकार है। 'दुनिया का सबसे अनमोल रतन' खोजने निकला हुआ पात्र अन्त में इस निष्कर्ष पर पहुँचता है: "खून का वह आखिरी कतरा जो वतन की हिफाजत में गिरे दुनिया की सबसे अनमोल चीज है।"

प्रेमचन्द का तबादला महोबा में हो गया। 'सोज़े वतन' में लेखक नवाबराय का नाम छपा हुआ था। सरकारी नौकर धनपतराय श्रीवास्तव थे। सरकार के खुफिया विभाग ने पता लगा लिया कि नवाबराय तो धनपतराय श्रीवास्तव का छद्म नाम है। कलेक्टर ने प्रेमचन्द को फौरन बुलाया। प्रेमचन्द मिलने गये। उन्होंने संस्मरण में लिखा: "साहब ने मुझसे एक-एक कहानी का आशय पूछा और अन्त में बिगड़ कर बोले—"तुम्हारी कहानियों में 'सिडीशन' (राजद्रोह) भरा हुआ है। अपने भाग्य को बखानो कि अंग्रेजी अमलदारी में हो। मुगलों का राज्य होता, तो तुम्हारे दोनों हाथ काट लिए जाते। तुम्हारी कहानियाँ एकांगी हैं, तुमने अंग्रेजी सरकार की तौहीन की है, आदि।" फैसला यह हुआ कि मैं 'सोज़े वतन' की सारी प्रतियाँ सरकार के हवाले कर दूँ, और साहब की अनुमति के बिना कभी कुछ न लिखूँ।" अब एक नयी समस्या सामने आयी। उर्दू का लेखक और अंग्रेजी राज्य की सीधी टक्कर थी। न लिखना मन्जूर नहीं था, नवाबराय के नाम से लिखने की मनाही थी। बहुत सोच विचार के बाद वह इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि कोई नया छद्म नाम रख लिया जाये और इस तरह नवाबराय को भुला दिया जाये। अन्त में 'जमाना' के सम्पादक दयानारायण निगम ने 'प्रेमचन्द' नाम सुझाया। इसे उन्होंने मान लिया। उन्होंने लिखा: "प्रेमचन्द अच्छा नाम है। मुझे भी पसन्द है। अफ़सोस सिर्फ यह है कि पाँच-छः साल में 'नवाबराय' को फरोग देने की जो मेहनत की गई, वह सब अकारथ हो गयी। यह हजरत किस्मत के हमेशा लँडूरे ही रहे और शायद रहेंगे।" इस तरह नवाबराय का नामकरण प्रेमचन्द हुआ। इस नाम से उनकी पहली कहानी 'बड़े घर की बेटी' (1910) प्रकाशित हुई।

प्रेमचन्द के जीवनी लेखक अमृतराय ने लिखा है कि इस घटना का प्रेमचन्द पर कोई खास प्रभाव नहीं पड़ा। जबकि ऐसी बात नहीं है। प्रेमचन्द के उन्मुक्त रचनाकार को इस घटना से रचनात्मक धक्का लगा। 'सोज़े वतन' की कहानियों में कहानी की घटनाओं पर रचनाकार हावी रहता है। ऐसा लगता है कि रचनाकार अपने विचारों का प्रचार करने के लिए कृत संकल्प है। उसके इस कार्य

में हस्तक्षेप करने वाला कोई नहीं है। अंग्रेज सरकार के आतंक की तलवार गर्दन पर लटक रही थी। प्रेमचन्द ने लिखने की इस शैली पर पुनर्विचार किया। उन्होंने एक ऐसी शैली विकसित करने का प्रयास किया जिससे पढ़ने वाला समझ जाये, परन्तु लिखने वाला पकड़ में न आये। कम से कम कलेक्टर के सामने फिर कभी हाजिर न होना पड़े। शैली के परिवर्तन के साथ साथ कहानी के विषयों में भी परिवर्तन हुए। भावुक देशप्रेम की कहानियों का स्थान समाज सुधार की कहानियों ने ले लिया। इस घटना से प्रेमचन्द को साहित्य की राजनीतिक शक्ति का एहसास हुआ। साहित्य देश सेवा का साधन हो सकता है, सामाजिक परिवर्तन का जरिया हो सकता है—यह बात उनके मन में बैठ गयी। साथ ही उन्होंने यह भी महसूस किया कि यह बहुत ही नाजुक 'साधन' है अतः इसका इस्तेमाल अत्यन्त सावधानी से किया जाना चहिए।

'सोज़े वतन' के बाद प्रेमचन्द ने 'रानी सारंधा', 'राजा हरदौल', 'आल्हा' जैसी कुछ ऐतिहासिक कहानियाँ और 'रूठी रानी' उपन्यास लिखा। दूसरी तरफ 'बरदान' (1912) जैसा उपन्यास लिखा। इसमें समकालीन सामाजिक समस्याओं का विवेचन है। इन दिनों प्रेमचन्द पर आर्य समाज का प्रभाव निर्णायक था। प्रेमचन्द ने आर्य समाज के समाज सुधार के कार्यक्रम को अपनाया लेकिन वह उसके मुस्लिम विरोधी रूप से अलग रहे। उन्होंने आगे चलकर आर्य समाज के 'शुद्धि आन्दोलन' का विरोध किया था। इस बीच प्रेमचन्द महोबा में रहे और 1912 में वस्ती को उनका तबादला हो गया। महोबा में वह स्कूल इन्सपेक्टर हो गये। यहाँ उन्होंने घूम घूम कर भारतीय किसानों को देखा, उनके कष्टों को महसूस किया। महोबा में प्रेमचन्द को पेचिश की शिकायत हो गयी और वर्षों उससे पीड़ित रहे। बाद में, नौकरी से त्यागपत्र देने के साथ ही इस पेचिश से भी मुक्त हुए।

प्रेमचन्द जिन दिनों बस्ती में रहते थे, उन दिनों उनका परिचय पंडित मन्नन द्विवेदी से हुआ, जो शीघ्र ही घनिष्ठता में बदल गया। प्रेमचन्द बाजार से स्वयं साग-सब्जी खरीद कर ले आया करते थे। एक बार वह मछली खरीद रहे थे कि उसी समय पं० मन्नन द्विवेदी मिल गये। रास्ते में कुछ देर बातचीत कर के दोनों मित्र अपने-अपने घर चले गये। दूसरे दिन द्विवेदी जी ने टोकरी भर मछलियाँ प्रेमचन्द के यहाँ भिजवा दीं और साथ में यह दोहा लिखकर भेज दिया :

धीमर ने फाँस्यो अभी दीन हीन सफरीन।
प्रेमचन्द भोजन करें विद्या-बुद्धि प्रवीन॥

इसी समय से प्रेमचन्द ने हिन्दी में भी लिखना शुरू कर दिया। 'प्रेमा' का हिन्दी रूपान्तर तो बहुत पहले प्रकाशित हो गया था, अब पत्र पत्रिकाओं में उनकी कुछ कहानियाँ भी छपने लगीं। प्रेमचन्द ने सरस्वती-सम्पादक पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी के पास एक कहानी भेजी—'पंचों में ईश्वर'। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने जून 1916 की 'सरस्वती' में 'पंच परमेश्वर' के नाम से इस कहानी को प्रकाशित किया।

प्रेमचन्द अत्यन्त सफल और उदार शिक्षक थे। उनके एक शिष्य मंजूरूल हक़ ने अपने संस्मरण में उनके शिक्षक व्यक्तित्व का वर्णन इस तरह से किया है :

"आपको मामूल था कि स्कूल में अमूमन ठीक वक्त पर पहुँच जाते। रहने के लिए आपको स्कूल ही में सरकारी मकान मिला था। घण्टा बजा और आप शायराना अन्दाज में निकले। अक्सर आप खुले सर, बाल परीशान और एक कोट पहने हुए, जिसके बटन खुले रहते, आम तौर पर धोती पहने एक अजीब अन्दाज रफ्तार से स्कूल जाते थे। लड़के जितना उनका अदब करते थे, किसी दूसरे का नहीं करते थे। मेरी जमात को तारीख पढ़ाते थे। उनका दस्तूर यह था कि खुद तारीख की किताब लेकर पढ़ते चले जाते। चूँकि लड़के मिडिल और ट्रेनिंग पास होते थे, इसलिए ज्यादा दिक्कत नहीं पड़ती थी। एक घण्टा में जो कुछ पढ़ाना होता, पन्द्रह मिनट में पढ़कर तारीख के मुतअल्लिक वे बातें बयान करते, जो उस तारीख में न होतीं। नहीं मालूम, उनकी मालूमात कितनी वसीह थी। अक्सर ऐसा होता कि जो कुछ तारीख में पढ़कर सुनाते, उसके खिलाफ मुख्तलिफ तारीखी हवालों से बयान करते। बाज़ वाकियात के मुतअल्लिक यह भी दिखलाते कि महज हिन्दू-मुसलमानों में नफाक पैदा करने के लिए लिखी गई हैं। गरज उनका घण्टा अजीबो-गरीब मालूमात का घण्टा होता। घण्टा खत्म होने के किब्ला यह भी फर्मा देते कि देखो जो कुछ मैंने बयान किया है, वह समझने की चीज है। इम्तिहान में वही लिखना जो तुम्हारी किताब में है, वरना फेल हो जाओगे।"

छात्रों के साथ उनका सहज आत्मीय बर्ताव रहता था, लेकिन अफ़सरों की अफसरी की खिलाफ़त किया करते थे। एक बार स्कूल की जाँच करने के लिए इन्सपेक्टर आया। जाँच के दूसरे दिन अपने घर के सामने आराम कुर्सी पर लेटे हुए प्रेमचन्द अखबार पढ़ रहे थे। इन्सपेक्टर कार से गुजर रहा था। प्रेमचन्द ने उठकर सलाम करने की आवश्यकता नहीं समझी। उसने प्रेमचन्द को बुलाया।

प्रेमचन्द ने पूछा, "कहिये, क्या है ?"

"तुम बड़े मगरूर हो। तुम्हारा अफ़सर तुम्हारे दरवाजे से निकल जाता है और तुम उठकर सलाम भी नहीं करते।"

"मैं जब स्कूल में रहता हूँ तब नौकर हूँ। बाद में मैं भी अपने घर का बादशाह हूँ। आपने जो कहा, यह कहकर अच्छा नहीं किया। इस पर मुझे अधिकार है कि आप पर केस चलाऊँ।"

सरकारी नौकरी से इस्तीफा

'सोजे वतन' के जब्त होने के बाद प्रेमचन्द नयी रचना शैली की खोज में थे। इसके लिए उन्होंने देश-विदेश के प्रसिद्ध रचनाकारों का अध्ययन किया। इस रचनात्मक बेचैनी का जिक्र उन्होंने मुंशी दयानारायण निगम को लिखे 4 मार्च 1914 के एक पत्र में किया है।

प्रेमचन्द के जीवन में कानपुर का विशेष महत्त्व है। यहीं से उनके साहित्यिक जीवन की

शुरुआत हुई। यहीं से वह देश-विदेश के समाचार प्राप्त करते रहते थे। 1913 में एक बार वह कानपुर गये और वहाँ 'प्रताप' आफिस में चले गये। 'प्रताप' के सम्पादक प्रसिद्ध पत्रकार गणेश-शंकर विद्यार्थी से भेंट हुई। उनसे साहित्य और राजनीति से लेकर देश-विदेश की तत्कालीन घट-नाओं पर लम्बी बातचीत हुई। प्रेमचन्द विद्यार्थी जी के चिन्तन और साहित्य से बड़े प्रभावित हुए। वापिस आकर उन्होंने शिवरानी देवी से कहा, "विद्यार्थी जी बड़े मेहनती हैं। कार्यालय का बहुत काम अपने ही हाथों करते हैं। इसे ही पुरुषार्थ कहते हैं। इसी तरह के आदमियों की मुल्क को जरूरत है। ऐसे ही आदमी अपने जीवन को सफल बना सकते हैं।" इसी समय प्रेमचन्द के मन में नौकरी छोड़कर स्वतन्त्र पत्रकार का जीवन बिताने की इच्छा पैदा हुई। विद्यार्थी जी के जीवन को देखकर प्रेमचन्द ने कहा : "मेरी यह भी इच्छा होती है कि मैं भी इस नौकरी को छोड़-छाड़कर कहीं एकान्त में बैठकर साहित्य की सेवा करूँ। क्या करूँ मेरा दुर्भाग्य है कि मेरे पास थोड़ी-सी जमीन भी नहीं। मेरे पास 10 बीघा भी जमीन होती तो मैं अपने खाने भर का गल्ला पैदा कर लेता और चुपचाप एकान्त में बैठकर साहित्य की सेवा करता।"

प्रेमचन्द समकालीन पत्रकारिता से आत्मीय रूप से जुड़े हुए थे। देशी भाषाओं की पत्र-पत्रिकाएँ उस युग में राष्ट्रीय जागरण का नेतृत्व कर रही थीं और हिन्दी के अधिकांश साहित्यकार किसी-न-किसी पत्र से जुड़े हुए थे। प्रेमचन्द आरम्भ में उर्दू के प्रसिद्ध पत्र 'जमाना' से सम्बद्ध थे। वह उसमें 'रफ्तारे जमाना' कॉलम नियमित रूप से लिखते थे। पत्रकारों के जीवन से वह परिचित थे। अत: उनके मन में पत्रकार बनने की इच्छा जाग्रत हुई। उन्होंने अनेक निजी पत्रों में दयानारायण निगम को अपनी इच्छा से अवगत कराया। यहाँ तक कि 'जमाना' में कार्य करने की इच्छा भी प्रकट की। उस समय इंडियन प्रेस, प्रयाग 'अदीब' नामक उर्दू पत्र निकालने की योजना बना रहा था। प्रेमचन्द को उन्होंने, सम्पादकत्व का भार सौंपा। पहले तो प्रेमचन्द इसके लिए तैयार हो गये, लेकिन बाद में मित्रों की सलाह से उन्होंने इन्कार कर दिया।

असल में प्रेमचन्द में राष्ट्रीय भावनाओं का उभार बहुत उग्र रूप से रहा था। गोरखपुर में प्रेमचन्द शिक्षक थे, उस समय एक बार उनकी गाय कलेक्टर के अहाते में चली गई। साहब ने प्रेम-चन्द को बुलाया।

साहब के पास जाकर आप बोले—"आपने मुझे क्यों याद किया ?"

"तुम्हारी गाय मेरे हाते में आई। मैं उसे गोली मार देता। हम अंग्रेज हैं।"

"साहब, आपको गोली मारनी थी तो मुझे क्यों बुलाया ? आप जो चाहे सो करते। या आप मेरे खड़े रहते गोली मारते ?"

"हाँ, हम अंग्रेज हैं, कलक्टर हैं। हमारे पास ताकत है। हम गोली मार सकता है।"

"आप अंग्रेज हैं। कलक्टर हैं। सब कुछ हैं, पर पब्लिक भी तो कोई चीज है।"

"मैं आज छोड़ देता हूँ। आइन्दा आई तो हम गोली मार देगा।"

"आप गोली मार दीजिएगा। ठीक है, पर मुझे न याद कीजिएगा।"

यह कहते हुए आप बाहर चले आये।

दयानारायण निगम ने प्रेमचन्द को यू० पी० सरकार के वार-जर्नल में काम करने की सलाह दी तो गोरखपुर से 7 जुलाई 1918 को प्रेमचन्द ने लिखा, "अब मैं सरकारी अखबार नवीस क्या होऊँगा। जंग के मुताल्लिक मजामीन लिखने की भी इस वक्त मुझे फ़ुर्सत नहीं है। बस इसी रफ्तारे कदीम पर चलूँगा। बी० ए० करके किसी प्राइवेट स्कूल की हेडमास्टरी और एक अच्छे अखबार की एडिटरी और कुछ और पब्लिक काम। यही मेराजे जिन्दगी है। अखबार मजदूरों-किसानों का हामी और मुआविन होगा।" इसी तरह के एक और प्रस्ताव पर प्रेमचन्द ने 4 सितम्बर, 1918 को लिखा "और मैं बदकिस्मती से इसे कौमी काम नहीं समझता।"

प्रथम विश्वयुद्ध में अंग्रेजों की जीत हुई। सारे भारत में इस खुशी के अवसर पर जलसों का आयोजन किया गया। गोरखपुर में भी अंग्रेजों को बधाई देने के लिए एक जलसा हुआ। स्वयं जिलाधीश उसमें मौजूद थे। प्रेमचन्द ने इसमें भाग नहीं लिया। इस पर सरकार ने प्रधानाध्यापक बेचन लाल से इसका जवाब माँगा। प्रेमचन्द ने स्पष्ट लिखित उत्तर दिया। महाशय बेचन लाल प्रेमचन्द से बहुत स्नेह करते थे। उन्होंने उस जवाब को अधिकारियों के पास नहीं भेजा और इस मामले को रफ़ा-दफ़ा कर दिया।

प्रेमचन्द ने 1920 के आसपास स्वतंत्र प्रेस की स्थापना का भी प्रयास किया। उन्होंने कानपुर और कलकत्ता में अनेक प्रेस देखे और बहुत सारे व्यक्तियों से पत्र-व्यवहार भी किया। उनके पास तीन-चार हजार रुपये भी थे, लेकिन कुछ ठोस कार्यवाही नहीं हो पायी।

इस तरह कहा जा सकता है कि प्रेमचन्द ने असहयोग और गांधी जी के प्रभाव से एकाएक इस्तीफा नहीं दिया था। वह मानसिक रूप से बहुत पहले से ही इस्तीफा देने के लिए तैयार हो रहे थे। ऐसे ही समय में असहयोग का प्रचार करते हुए महात्मा गांधी 8 फरवरी 1921 को गोरखपुर पहुँचे। प्रेमचन्द बीमार थे, लेकिन फिर भी बाल-बच्चों सहित गांधी जी का भाषण सुनने पहुँचे। दो लाख से अधिक लोग उन्हें सुनने के लिए आये। गांधी जी ने देश के नागरिकों से सरकार के साथ असहयोग करने का प्रस्ताव रखा। प्रेमचन्द बहुत दिनों से इस कशमकश में थे। घर आकर पत्नी से पूछा, पत्नी ने दो-तीन दिन का समय माँगा। अन्त में उसकी राय भी बनी कि नौकरी से त्यागपत्र दे देना चाहिए।

अब आप अपनी स्वाभाविक हँसी हँसकर बोले—"दूसरों का अन्त करने के पहले अपना अन्त सोच लो।"

"मैंने सोच लिया है। अब तुम अच्छे हो गये हो तो मैं सोचती हूँ कि अब आगे भी जंगल में मंगल कर सकूँगी और मेरा खयाल है कि ईश्वर कुछ अच्छा ही करने वाला है।"

"सोच लो, फिर न कहना कि छोड़कर खुद भी तकलीफ उठायी और मुझे तकलीफ दी

क्योंकि सर पर तकलीफें आगे बहुत आने वाली हैं, मुमकिन है कि खाने को भी न मिले।"

"मैं इसके लिए सोच चुकी हूँ। मैं तो यह जानती हूँ कि सर पर जब बला आती है तब हर कोई भुगत लेता है। फिर भी भुगतते तो हैं बड़े-बड़े घर के लोग, अपनी तो बिसात ही क्या है।"

तब वह बोले—"यही निश्चय है ?"

पत्नी बोली—"हाँ।"

इस तरह 15 फरवरी, 1921 को प्रेमचन्द ने सरकारी नौकरी से इस्तीफा दे दिया और दूसरे दिन ही वह सेवा मुक्त हो गये। पचीस वर्ष पूर्व जिस नौकरी को पाकर प्रेमचन्द अत्यन्त प्रसन्न हुए थे उसे छोड़ते हुए उनका मन तनिक भी दुःखी नहीं हुआ था। नौकरी के साथ उनका नौ साल पुराना रोग पेचिश भी चला गया।

इस्तीफा देने के बाद प्रेमचन्द महावीर प्रसाद पोद्दार के साथ उनके गाँव मनीराम चले गये और वहाँ चर्खे का प्रचार-प्रसार करने लगे। चर्खे के प्रचार में उस समय अनेक गीत प्रचलित थे :

देश दरिद्र दीन दुःख टारि
यदि चाहो करना उद्धार
तो चर्खे का करो प्रचार
पहनो खादी सब नर - नारि

यहाँ से वह 18 मार्च 1921 को लमही चले आये। 23 जून 1921 को कानपुर के मारवाड़ी स्कूल में हेडमास्टर के पद पर नियुक्त हुए। यहाँ पर संचालकों से अनबन हो गई और उन्होंने इस्तीफा दे दिया। इलाहाबाद से निकलने वाली पत्रिका 'मर्यादा' इन्हीं दिनों बनारस आ गयी। उसके सम्पादक सम्पूर्णानन्द जेल चले गये, उन दिनों में प्रेमचन्द ने सम्पादक का कार्य किया और बाद में शिवप्रसाद गुप्त ने उनको काशी विद्यापीठ में लगवा दिया।

असहयोग के इन्हीं दिनों में प्रेमचन्द ने 'रंगभूमि' नामक उपन्यास लिखना शुरू किया। 'रंगभूमि' उपन्यास में पहली बार एक अंग्रेज चरित्र मि० क्लार्क आता है। एक बार बातचीत के दौरान वह अंग्रेजों की नीति सम्बन्धी वक्तव्य देता है, कि "अंग्रेज जाति भारत को अनन्त काल तक अपने साम्राज्य का अंग बनाये रखना चाहती है। कंजरवेटिव हो या लिबरल, रेडिकल हो या लेबर, नेशनलिस्ट हो या सोशलिस्ट, इस विषय में सभी एक ही आदर्श का पालन करते हैं।" उस समय के राजनेता इस भ्रम के शिकार थे कि कुछ अंग्रेज शासक भारत के मित्र हैं और कुछ दुश्मन। प्रेमचन्द कभी भी साम्राज्यवादी अंग्रेजों में इस तरह का फर्क नहीं करते। इसी तरह अंग्रेजों की दृष्टि में भी अपने साम्राज्य की दृष्टि से सभी भारतीय एक जैसे हैं। जो साम्राज्य का साथ देता है वह उनका मित्र है, जो उनके साम्राज्य का विरोध करता है वह उनका दुश्मन है। 'कायाकल्प' उपन्यास में जिम नामक अंग्रेज राजा विशाल सिंह को ठोकर मारते हुए कहता है : "...राजा और

रैयत सब एक हैं। हम किसी पर भरोसा नहीं करता। अपने जोर का भरोसा है। राजा का काम बागियों को पकड़वाना, उनका पता लगाना है। उनका सिफारिश करना नहीं। अब निकल जाओ।"

प्रेमचन्द के मन में अंग्रेजी शासकों के लिए तीव्र घृणा रही है। उनके प्रिय मित्र दयानारायण निगम ने एक दावत में अंग्रेज अफ़सर को भी निमंत्रित किया। प्रेमचन्द ने 31 मई, 1922 को पत्र में लिखा: "आपने अंग्रेज हुक्काम की दावत नाहक की। क्या फ़ायदा। क्या अभी आपने शोहरत गढ़, खलीलाबाद, लखीमपुर वगैरह के वाकये नहीं देखे? ऐसी हालत में अब हमनवाई बेमौका है ख्वाह इससे अपना कितना ही जाती नफ़ा क्यों न होता हो।"

प्रेमचन्द ने इन्हीं दिनों 'अधिकार चिन्ता' नामक कहानी लिखी जिसमें उन्होंने टामी नामक कुत्ते के बहाने अंग्रेजों के भारत-प्रवेश, भारत पर अधिकार करने की प्रक्रिया और अन्त में उस अधिकार की चिन्ता में मरते हुए दिखाया है। कहानी अंग्रेजी साम्राज्य के पतन की घोषणा करती है।

प्रेमचन्द ने अंग्रेजों का विरोध करने वाले असहयोगियों का वर्णन अत्यन्त पावन श्रद्धा के साथ किया है। इस दृष्टि से 'रंगभूमि' के सूरदास का व्यक्तित्व अद्वितीय है। अपनी टेक पर अड़े रहना और न्याय के लिए मर मिटना उसके व्यक्तित्व का प्रधान आकर्षण है। मि० जानसेवक सूरदास की जमीन छीनना चाहते हैं, उसके मित्र कम हैं, फिर भी वह जनता को असहयोग के लिए प्रेरित करता है। इसी के नेतृत्व में असहयोग आन्दोलन होता है। इसमें वह शहीद हो जाता है। वह जीवन को खेल का मैदान समझता है। पराजय में भी जीत की आशा के साथ संघर्ष की चेतना उसमें बनी रहती है। चौराचौरी की घटना के बाद गांधी जी ने असहयोग आन्दोलन बन्द कर दिया था। एक तरह से आन्दोलन असफल हो गया। 'रंगभूमि' का सूरदास मरते-मरते भविष्यवाणी करता है:

"हम हारे, तो क्या, मैदान से भागे तो नहीं, रोये तो नहीं, धाँधली तो नहीं की। फिर खेलेंगे, जरा दम ले लेने दो, हार-हार कर तुम्हीं से खेलना सीखेंगे और एक-न-एक दिन हमारी जीत होगी, जरूर होगी।"

असहयोग आन्दोलन का प्रभाव गाँव के परम्परागत जीवन पर भी पड़ा। 'लाग-डाँट' कहानी में प्रेमचन्द ने इसका वर्णन किया है। जोखू भगत और बेचन चौधरी में तीन पीढ़ियों से अदावत चल रही थी। इससे सारे गाँव में दो दल बन गये। असहयोग के प्रभाव से इन दोनों में मेल जोल हो गया। 'स्वत्व रक्षा' नामक कहानी में एक असहयोगी घोड़े का वर्णन किया गया है। रविवार घोड़े के लिए छुट्टी का दिन है। घोड़े के मालिक का दोस्त रविवार को उसे जोतना चाहता है। घोड़ा शान्तिपूर्ण असहयोग के द्वारा उनका कैसे प्रतिकार करता है, इसका वर्णन उन्होंने इस कहानी में किया है। असहयोग आन्दोलन जब जन चेतना का अंग बनने लगा, तब एक ऐसे नये

नेतृत्वकारी वर्ग का उदय हुआ, जिसको सरकारी अत्याचार के साथ-साथ आम जनता के उपहास और व्यंग्य का भी सामना करना पड़ रहा था। स्वार्थी दुनियादारों के बीच में कार्यकर्त्ता 'बौड़म' के रूप में पहचाने जाने लगे। 'बौड़म' कहानी का सार है कि "जो स्वार्थ पर आत्मा को भेंट कर देता है, वह चतुर है, बुद्धिमान है। जो आत्मा के सामने, सच्चे सिद्धान्त के सामने, सत्य के सामने स्वार्थ की, निन्दा की परवाह नहीं करता, वह बौड़म है, निर्बुद्धि है।"

असहयोग के सामूहिक नैतिक प्रभाव को रेखांकित करते हुए प्रेमचन्द ने दिसम्बर 1921 को लिखा : "यों कुछ लोगों की दृष्टि में तो असहयोग आन्दोलन को सिरे से ही कोई कामयाबी हासिल न हुई—न लड़कों ने मदरसे छोड़े, न सरकारी मुलाजिमों ने नौकरियाँ छोड़ीं, न वकीलों ने वकालत को नमस्कार किया, न पंचायतें कायम हुईं।...विद्यार्थियों ने सामूहिक रूप से स्कूल-कॉलेज न छोड़े हों लेकिन उनमें आजादी और सच्चाई की चेतना, सेवा और बलिदान की भावना जरूर पैदा हो गयी है जो आगे चलकर राष्ट्र के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध होगी।"

सरस्वती प्रेस की स्थापना

सरकारी नौकरी से त्यागपत्र दे देने के बाद प्रेमचन्द की आर्थिक परेशानियाँ बढ़ती ही चली गयीं। हालाँकि उनके मन में कभी भी सरकारी नौकरी छोड़ने का अफसोस नहीं हुआ। ऐसा एक भी संस्मरण हमें नहीं मिला है। 7 जुलाई, 1922 ई० को प्रेमचन्द ने निगम साहब को पत्र द्वारा सूचित किया कि उनकी 'मर्यादा' की नौकरी छूट गयी है। इसके बाद वह काशी विद्यापीठ में काम करने लगे। 1 जुलाई, 1923 को उनकी यह नौकरी भी समाप्त हो गयी।

प्रेमचन्द बराबर यह प्रयास करते रहे कि कुछ ऐसा किया जाय, जिससे रोजाना के आर्थिक-झंझटों से मुक्त हुआ जा सके। स्थायी आमदनी का स्रोत खोज निकालने का प्रयास वह करते रहे और इसी खोज में उनके मन में प्रेस खरीदने की इच्छा जागृत हुई। इस विषय से सम्बन्धित उन्होंने अनेक पत्र अपने दोस्तों को लिखे। कई लोगों से सलाह-मशविरा भी लिया। अनेक स्थानों पर अनेक प्रेस देखे। इस कार्य के लिए उन्होंने अपने भाई महताबराय को प्रेस का काम सिखाया और प्रेस में नौकरी दिलवाई। देर-सवेर इसी प्रेस से पत्र निकालने की योजना बनी। इस समय उनके दो उद्देश्य थे। एक तो अपने प्रेस से अपनी पुस्तकों का प्रकाशन और दूसरे, नियमित आमदनी। इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर उन्होंने जुलाई 1923 को बनारस में प्रेस की स्थापना की। दयानारायण निगम के सुझाव पर इसका नाम 'सरस्वती प्रेस' रखा गया। इसको खरीदने के लिए प्रेमचन्द ने 4500/- रुपये लगाये, महताबराय ने 2000/- रुपये, बलदेव लाल ने 2000/- रुपये और रघुपति सहाय ने 2000/- रुपये लगाये। इस तरह से इस प्रेस को प्रेमचन्द ने साझे में खरीदा। प्रेस ने वांछित मुनाफा नहीं दिया, अतः साझीदारों ने दबाव डाला तो प्रेमचन्द ने 9500/- रुपये में प्रेस खरीद लिया और बाकी साझीदारों को सूद सहित रुपया अदा कर दिया। यह कार्य उन्होंने 1924 में किया।

प्रेमचन्द ने स्थायी आमदनी के लिए प्रेस खरीदा था । प्रेस ने आमदनी के बदले खर्चे की माँग की । प्रेस से सम्बन्धित आर्थिक कठिनाइयों का जिक्र प्रेमचन्द के आत्मीय जनों को लिखे अनेक पत्रों में मिलता है । प्रेमचन्द ने फिर नौकरी की खोज करनी शुरू की । श्री दुलारेलाल भार्गव ने उनको 'गंगा पुस्तक माला', लखनऊ में साहित्यिक सलाहकार बना दिया । वेतन 100/- रुपये महीना तय हुआ । प्रेमचन्द 24 सितम्बर, 1924 को इस कार्य के लिए लखनऊ पहुँचे । साल भर के लगभग उन्होंने इस पद पर काम किया और 1 सितम्बर 1925 को लखनऊ से पुनः लमही चले आये । डेढ़ साल के बाद प्रेमचन्द को 'माधुरी' का सम्पादन करने के लिए आमन्त्रित किया गया । प्रेमचन्द ने 15 फरवरी 1927 को 'माधुरी' के सम्पादन का कार्य भार संभाला । इनके साथ पं० कृष्ण बिहारी मिश्र भी सम्पादक थे । इस बार प्रेमचन्द लगभग छः वर्ष तक लखनऊ रहे ।

सन् 1924 में प्रेमचन्द के पास अलवर रियासत के राजा साहब की चिट्ठी लेकर कुछ लोग आये । राजा साहब प्रेमचन्द की रचनाओं के प्रशंसक थे । वह प्रेमचन्द को अपने साथ रखना चाहते थे । वह 400/- रुपये महीना वेतन, मोटर, बंगला, नौकर-चाकर आदि की सभी सुविधाएँ देने के लिए तैयार थे । प्रेमचन्द ने राजा साहब के 400/- रुपये लेने के बदले 'गंगा पुस्तक माला' के 100/- रुपये को ही श्रेयस्कर समझा । उन्होंने पत्र लिखा, "मैं आपको धन्यवाद देता हूँ कि आपने मुझे याद किया । मैंने अपना जीवन साहित्य-सेवा के लिए लगा दिया है । मैं जो कुछ लिखता हूँ, उसे आप पढ़ते हैं, इसके लिए आपको धन्यवाद देता हूँ । आप जो पद मुझे दे रहे हैं, मैं उसके योग्य नहीं हूँ । मैं इतने में ही अपना सौभाग्य समझता हूँ कि आप मेरे लिखे को ध्यान से पढ़ते हैं । अगर हो सका तो आपके दर्शन के लिए कभी आऊँगा ।"

प्रेमचन्द से पहले 'माधुरी' का सम्पादन दुलारेलाल भार्गव किया करते थे । 'माधुरी' के सम्पादक बनकर प्रेमचन्द अपने समकालीन साहित्यकारों के जीवन्त सम्पर्क में आये । सन् 1928 में लखनऊ में वायसराय का आगमन हुआ । उनके स्वागत के लिए 40,000/- रुपये आतिशबाजी में खर्च किये गये । प्रेमचन्द सपरिवार इस आतिशबाजी को देखने गये । वहाँ से वापिस आकर पत्नी से बोले—"अब सुनो आतिशबाजी की बात । जो राजे-महाराजे हर साल यहाँ आते हैं वे कुछ न कुछ इसीलिए यहाँ रखते जाते हैं कि जब-जब वायसराय और युवराज यहाँ पधारें तो वह उनके स्वागत में खर्च हो । और जो कमी पड़ती है वह तुम्हारे यहाँ के काश्तकारों से वसूल किया जाता है । उन गरीबों की खून की कमाई, कूड़ा-घास की तरह आतिशबाजी में फूँक दी जाती है । जिस मुल्क के आदमी की कमाई औसत छः पैसे रोज हो, उस मुल्क में किसी को क्या हक़ है कि एक-एक शहर में 40-40 और 50-50 हजार रुपये आतिशबाजी में फूँका जाय ।" इस आतिशबाजी का रंज उनके दिल-दिमाग पर कई दिनों तक रहा ।

इसी समय ब्रिटिश गवर्नमेंट ने प्रेमचन्द को 'रायसाहब' की उपाधि देने का प्रस्ताव रखा । प्रेमचन्द ने इस प्रस्ताव को ठुकराकर स्वाधीन लेखक के गौरव को बढ़ाया है । वह सरकार,

जिसने 'सोज़े वतन' की प्रतियाँ जला दी थीं, अब उसी लेखक को रायसाहबी देकर खरीदना चाहती थी। देश भक्त रचनाकार ने देश भक्त रहना ही अपने लिए उचित समझा।

यहीं रहकर 1929 ई० में प्रेमचन्द ने अपनी लड़की की शादी की। कहते हैं कि इस शादी में प्रेमचन्द ने चार-पाँच हजार रुपये खर्च किये। प्रेमचन्द के दो लड़के और एक लड़की थी। उन्होंने अपने दोनों लड़कों को अच्छी तरह से पढ़ाया-लिखाया, लेकिन लड़की को उच्च शिक्षा न दिला सके थे। इस विवाह में प्रेमचन्द ने 'कन्यादान' जैसी अनेक रूढ़ियों का पालन नहीं किया। यह काम शिवरानी देवी ने किया। वह बोले, "कन्या दान कैसा ? बेजान चीज दान में दी जाती है। जानदार चीजों में तो गौ ही दी जा सकती है। फिर लड़की का दान कैसा ? यह मुझे पसन्द नहीं।"

कई दिनों से दयानारायण निगम और प्रेमचन्द जैसे साहित्यकार हिन्दुस्तानी एकेडमी की स्थापना करना चाहते थे, जो हिन्दी और उर्दू साहित्यों के विकास में सहायक हो। 21 मार्च 1927 को लखनऊ में इसका उद्घाटन हुआ। प्रेमचन्द इसकी कौंसिल के एक सदस्य थे। इसी वर्ष एकेडमी ने 'रंगभूमि' पर पाँच सौ रुपये का पुरस्कार दिया। प्रेमचन्द अब तक साहित्य में पूर्णतः प्रतिष्ठित हो गये थे। साहित्य-प्रेमी जनता ने उनको 'उपन्यास सम्राट' की उपाधि दी। इधर उनके साहित्य का जोर-शोर से विरोध होने लगा। उनके साहित्य पर दो मुख्य आरोप लगाये गये थे। अवध उपाध्याय ने आरोप लगाया कि 'रंगभूमि', 'वैनिटी फेयर' की नकल है और 'प्रेमाश्रम' 'रिजरेक्शन' की नकल है। फिर कुछ लोगों ने उनकी कहानियों के भी मूल रूप खोजे। रामकृष्ण शिलीमुख, ठाकुर श्रीनाथसिंह और ज्योति प्रसाद मिश्र निर्मल जैसे लोगों ने प्रेमचन्द को ब्राह्मण विरोधी और घृणा का प्रचारक बताया।

इस समय साहित्य में दो दल बन गये थे और उनका साहित्य गम्भीर विचार-विमर्श का केन्द्र बन गया था। इसी समय प्रेमचन्द की कहानी 'मोटेराम शास्त्री' (जनवरी 1928) माधुरी में प्रकाशित हुई। इसके कारण प्रेमचन्द पर मान-हानि का मुकदमा चला। यह कहानी प्रेमचन्द की व्यंग्यात्मक कहानियों की शृंखला में थी। लखनऊ के एक वैद्य शालिगराम शास्त्री ने, कृष्ण बिहारी मिश्र तथा प्रेमचन्द पर आई० पी० एस० की 500 तथा 109 धाराओं के अन्तर्गत इज्जत-हतक का दावा दायर किया। उन गवाहों के नामों में 'सुधा' के सम्पादक दुलारेलाल भार्गव तथा रूपनारायण पाण्डेय और गंगा पुस्तक माला कार्यालय के मातादीन शुक्ल थे। लखनऊ यूनिवर्सिटी के बदरीनाथ भट्ट, बदरीनाथ शास्त्री तथा आज्ञादत्त ठाकुर भी थे। अप्रैल में फैसला हुआ और मुकदमा खारिज हो गया। माधुरी का यह अंक हाथों-हाथ बिक गया। मई में इस कहानी को पुनः प्रकाशित किया गया। यह अंक भी बिक गया।

प्रेमचन्द घर में किस भाँति रहते थे, इसका विवरण उनकी पत्नी शिवरानी देवी ने दिया है। मारवाड़ी स्कूल, कानपुर में काम कर रहे दिनों को याद करते हुए शिवरानी देवी ने लिखा है :

"साढ़े चार बजे ही उठ जाते थे और लिखने-पढ़ने में लग जाते थे। धन्नू को पढ़ाते भी थे। लिखते भी जाते थे। उसके बाद फिर नहा-खाकर स्कूल जाते। स्कूल से लौटते हुए तरकारी वगैरह अपने साथ लेते आते थे। बच्चों के साथ भी कुछ देर खेलते। कांग्रेस की मीटिंग रोजाना चल रही थी, उसमें भी शरीक होते। मीटिंग से कभी-कभी लौटने में रात को दस बज जाते। जिस दिन दस
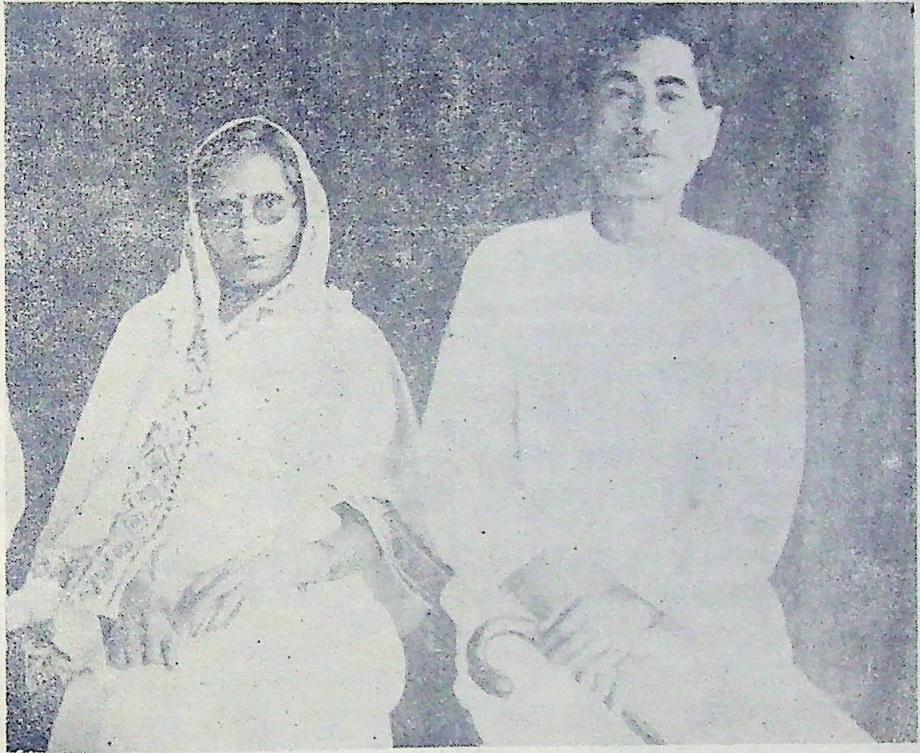
प्रेमचन्द अपनी पत्नी शिवरानी देवी के साथ।

बजे लौटते, उस दिन रात को काम न कर पाते, उस दिन तीन बजे रात को ही जमकर काम में लग जाते। मगर इतना आहिस्ते से उठते थे कि मैं जाग न पाती। मैं हमेशा आराम के लिए झगड़ती रहती थी। पर वह कब के मानने वाले।" शिवरानी देवी ने देखा कि उनकी कलम मजदूरों के

फावड़े की तरह तेजी से चलती रहती थी । प्रेमचन्द स्वयं अपने आप को कलम का मजदूर मानते थे।

सविनय अवज्ञा आन्दोलन में उनकी पत्नी जेल गईं । इच्छा रहते हुए भी प्रेमचन्द नहीं जा पाये । 10 जनवरी, 1931 को नवलकिशोर प्रेस के मालिक विष्णु नारायण भार्गव का देहान्त हो गया । इसके बाद प्रेमचन्द ने 'माधुरी' का सम्पादकत्व छोड़ दिया और प्रेस के पुस्तक प्रकाशन विभाग में साहित्य सुमन माला का सम्पादन करने लगे । अधिकारियों से फिर उनकी अनबन हो गयी और अन्ततः उन्होंने लखनऊ की नौकरी छोड़ दी और वह मई 1932 में बनारस चले आये ।

सरस्वती प्रेस घाटे में चल रहा था । 'हंस' और 'जागरण' का प्रकाशन आर्थिक दृष्टि से हितकर नहीं था । प्रेमचन्द ने बहुत दर्द के साथ जैनेन्द्र को लिखा, "···लेकिन सारी विपत्ति की जड़ तो यह प्रेस है । न जाने किस बुरी साइत में उसकी बुनियाद पड़ी थी । दस हजार रुपया और ग्यारह साल की मेहनत और परेशानियाँ अकारथ हो गईं । इसी प्रेस के पीछे कितने मित्रों से बुरा बना, कितनों से वायदा खिलाफी की, कितना बहुमूल्य समय जो लिखने-पढ़ने में कटता, बेकार प्रूफ देखने में कटा। मेरी जिन्दगी की यह सबसे बड़ी गलती है ।"

फिल्मी दुनिया में

आर्थिक परेशानियों से मुक्त होने के लिए प्रेमचन्द ने सिनेमा में काम किया। 4 जून, 1934 को प्रेमचन्द बम्बई पहुँचे और 3 अप्रैल 1935 को प्रेमचन्द वापिस लमही आ गये । बम्बई से प्रेमचन्द ने फिल्मी दुनिया के निराशाजनक अनुभव जैनेन्द्र कुमार और दूसरे साहित्यिक मित्रों को लिखे । 'मिल' और 'मजदूर' नामक फिलमों की कथा प्रेमचन्द ने लिखी । हालाँकि निर्देशकों ने उसमें बहुत काट-छाँट की ।

इसी समय प्रेमचन्द ने हिन्दी भाषा का प्रचार करने के लिए दक्षिण भारत की यात्रा की । अपने सम्पूर्ण जीवन के अनुभवों को सूत्रबद्ध करते हुए उन्होंने 1 सितम्बर, 1935 को बनारसीदास चतुर्वेदी को लिखा : "मैं ऐसे महान आदमी की कल्पना ही नहीं कर सकता जो धन-सम्पत्ति में डूबा हुआ है । जैसे ही मैं किसी आदमी को धनी देखता हूँ, उसकी कला-ज्ञान की सारी बातें मेरे लिए बेकार हो जाती हैं । मुझको ऐसा लगने लगता है कि इस आदमी ने वर्तमान समाज व्यवस्था को, जो अमीरों द्वारा गरीबों के शोषण पर आधारित है, स्वीकार कर लिया है । इस प्रकार कोई भी बड़ा नाम जो लक्ष्मी से असम्पृक्त नहीं है, मुझको आकर्षित नहीं करता । यह बहुत सम्भव है कि मेरे मन के इस ढाँचे के पीछे जीवन में मेरी अपनी असफलता हो । हो सकता है कि बैंक में अच्छी रकम रखकर मैं भी औरों जैसा ही हो जाता—उस लोभ का संवरण न कर पाता । लेकिन मैं खुश हूँ कि प्रकृति और भाग्य ने मेरी मदद की है और मुझे गरीबों के साथ डाल दिया है। इससे मुझे मानसिक शान्ति मिलती है ।"

प्रेमचन्द अत्यन्त साधारण व्यक्ति की तरह रहते थे। भीड़ में उनको अलग से पहचानना मुश्किल था। प्रेमचन्द ने अपने व्यक्तित्व के चारों ओर महानता का आडम्बर नहीं बनाया। एक सहज किसान की भाँति वह जीवन भर रहे। प्रेमचन्द के संस्मरण लिखने वालों ने उनकी सरलता और अट्टहास पूर्ण हँसी का जिक्र अवश्य किया है। नवम्बर 1931 को प्रेमचन्द हिन्दी साहित्य परिषद् के निमंत्रण पर पटना गये। परिषद् के कार्यकर्ताओं ने फर्स्ट, सैकंड, इण्टर क्लास के सारे डिब्बे देखे, लेकिन उन्हें कहीं भी, 'उपन्यास सम्राट' प्रेमचन्द नहीं दिखाई दिये। कार्यकर्ता बहुत परेशान हुए। उन्होंने देखा कि एक 'देहाती' व्यक्ति गत रात पंजाब मेल से उतरा था, लेकिन कहीं गया नहीं। नजदीक जाकर पूछा—

"क्यों जनाब, आप लखनऊ से आ रहे हैं?"

उत्तर—"हाँ भाई, लखनऊ से ही आ रहा हूँ।"

प्रश्न—"आप प्रेमचन्द हैं?"

उत्तर—"हाँ, प्रेमचन्द हूँ।"

यात्री के चेहरे पर किंचित क्रोध, किंचित संतोष और प्रसन्नता की रेखा एक साथ ही झलक पड़ी।

इस तरह के अनेक संस्मरण मिलते हैं, जिनमें प्रेमचन्द को पहचानने में ही दिक्कत हुई। उपेन्द्रनाथ अश्क ने लिखा: "उम्र का अधिक भाग शहरों में बिताने पर भी प्रेमचन्द आयुपर्यन्त देहात में रहे। यह बात कुछ असंभव-सी जान पड़ती है परन्तु यदि आप उनके जीवन और हलचलों में रहने वाले शान्तिप्रिय दिल से अभिज्ञ हैं, उस दिल की गहराई में गोता लगा सकते हैं तो आपको ज्ञात होगा कि शरीर के नाते चाहे वह नगर में रहे हों परन्तु मन के नाते वह सदैव देहात में रहे, देहातियों—निरीह, निर्धन और भोले-भाले देहातियों के साथ रहे, उनके दुःख-दर्द में शरीक होते रहे और उन्हें विपत्तियों के गहरे खड्ड से निकालकर उन्नति के उच्च शिखर पर पहुँचाने के स्वप्न देखते रहे।" स्वयं प्रेमचन्द की आकांक्षा गाँव में बसने की रही है। होली जैसे त्यौहारों के अवसर पर वह अवश्य लमही पहुँच जाते।

प्रेमचन्द के इस देहाती व्यक्तित्व के भीतर एक शहरी मानस निवास कर रहा था। इलाचन्द्र जोशी ने लिखा: "उनका चमकता हुआ विस्तृत ललाट, अन्तर्भेदिनी तथा सुगंभीर और शांत आँखें, मोटी भौंहें और बड़ी-बड़ी मूछें मिलकर एक ऐसे विचित्र व्यक्तित्व को व्यक्त करती थीं जो पूर्णतः भारतीय होने पर भी अपने भावलोक के एकाकीपन में एक निराली वैदेशिक विशेषता रखता था।"

अन्तिम घड़ियाँ

प्रेमचन्द पेचिश के मरीज थे। स्वास्थ्य उनका कभी अच्छा नहीं रहा, फिर भी वह नियमित

रूप से काम करते रहते थे । शिवरानी देवी उन्हें बराबर आराम करने की हिदायत देती रहती थीं । जून 1936 में प्रेमचन्द पुनः बीमार पड़े, पेट में दर्द शुरू हुआ, फिर कै हुई । हौमियोपैथिक इलाज करवाया, ऐलोपैथिक इलाज हुआ, लेकिन तबियत संभल नहीं रही थी । उन्हीं दिनों रूस के प्रसिद्ध साहित्यकार मैक्सिम गोर्की की मृत्यु हुई । प्रेमचन्द को इससे बहुत दुःख हुआ । वह गोर्की का बहुत सम्मान करते थे । 'आज' अखबार के आफिस में कुछ साहित्यकारों ने शोक सभा का आयोजन किया । प्रेमचन्द बीमार थे, फिर भी उसमें गये । प्रेमचन्द रात दो बजे तक भाषण लिख रहे थे, शिवरानी देवी ने टोका तो वह बोले—"गोर्की इतना बड़ा लेखक था कि उसके विषय में जातीयता का सवाल ही नहीं उठता, लेखक हिन्दुस्तानी या यूरोपियन नहीं देखा जाता । वह जो लिखेगा, उससे सभी को लाभ होता है ।" भाषण लेकर प्रेमचन्द ताँगे पर बैठकर 'आज' आफिस गये । कमजोरी इतनी ज्यादा थी कि सीढ़ियों पर नहीं चढ़ सके । मित्रों ने सहारा देकर उन्हें ऊपर चढ़ाया । भाषण देने लगे, तो कमजोरी के कारण खड़े भी नहीं रह सके । दूसरे व्यक्ति ने उस संदेश को पढ़ा । वापस आकर चारपाई पर लेट गये । उन्होंने कहा, "गोर्की के मरने से मुझे बहुत दुःख हुआ । मेरे दिल में यही आ रहा है कि गोर्की की जगह लेने वाला कोई नहीं रहा ।"

रचना-यात्रा के इस पड़ाव तक प्रेमचन्द अपने आप को टाल्स्टाय के नहीं, बल्कि गोर्की के करीब महसूस कर रहे थे । साहित्य में वह प्रगतिशील सिद्धान्तों के समर्थक हो गये थे । उसी समय 'अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ' की स्थापना हुई । इसका पहला अधिवेशन लखनऊ में हुआ । प्रेमचन्द ने न केवल इस संघ की स्थापना पर खुशी जाहिर की, बल्कि इस प्रथम अधिवेशन की अध्यक्षता भी की । इस अधिवेशन के अध्यक्षीय भाषण में प्रेमचन्द ने प्रगतिशील साहित्य के स्वरूप और उसके उद्देश्य पर प्रकाश डाला । "साहित्य का लक्ष्य केवल महफिल सजाना और मनोरंजन का सामान जुटाना नहीं है—उसका दरजा इतना न गिराइये । वह देश भक्ति और राजनीति के पीछे चलने वाली सच्चाई भी नहीं, बल्कि उनके आगे मशाल दिखाती हुई चलने वाली सच्चाई है ।" प्रेमचन्द ने 'कला कला के लिए' सिद्धान्त की आलोचना की ओर कला के 'उपयोगितावादी' सिद्धान्त का समर्थन किया, "हमारी कसौटी पर वही साहित्य खरा उतरेगा जिसमें उच्च चिन्तन हो, स्वाधीनता का भाव हो, सौन्दर्य का सार हो, सृजन की आत्मा हो, जीवन की सच्चाइयों का प्रकाश हो—जो हममें गति, संघर्ष और बेचैनी पैदा करे, सुलाये नहीं क्योंकि अब और ज्यादा सोना मृत्यु का लक्षण है ।"

प्रेमचन्द की अंतिम कहानी 'कफन' है और उपन्यास 'मंगलसूत्र' (अधूरा) है । इस कहानी में घीसू और माधव के अमानवीय जीवन की भीषणता का वर्णन है । कहानी इस समाज व्यवस्था की अमानवीयता पर करारी चोट करती है । 'मंगलसूत्र' आत्मकथात्मक उपन्यास है । पिछले दिनों के आदर्शवादी मोह को तोड़ते हुए उन्होंने लिखा : "हाँ, देवता हमेशा रहेंगे और हमेशा रहे हैं । उन्हें अब भी संसार धर्म और नीति पर चलता हुआ नजर आता है । वे अपने जीवन की आहुति देकर संसार से

विदा हो जाते हैं। लेकिन उन्हें देवता क्यों कहो ? कायर कहो, आत्मसेवी कहो। देवता वह है जो न्याय की रक्षा करे और उसके लिए प्राण दे दे।...देवताओं ने ही भाग्य और ईश्वर और भक्ति की मिथ्याएँ फैलाकर इस अनीति को अमर बनाया है। मनुष्य ने अब तक इसका अन्त कर दिया होता या समाज का ही अन्त कर दिया होता जो इस दशा में जिन्दा रहने से कहीं अच्छा होता। नहीं, मनुष्यों में मनुष्य बनना पड़ेगा। दरिन्दों के बीच में, उनसे लड़ने के लिए, हथियार बाँधना पड़ेगा।"
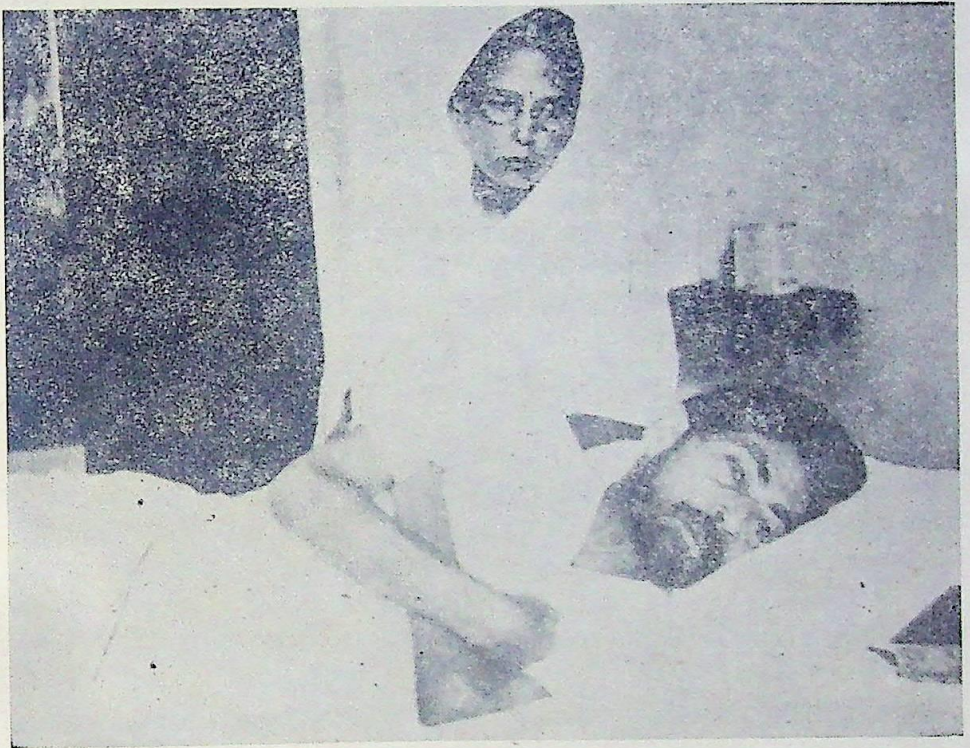
प्रेमचन्द जलोदर से पीड़ित थे। इलाज के लिए लखनऊ गये, वहाँ से वापिस आ गये। 7 अक्तूबर 1936 की रात को खाट के पास जैनेन्द्र बैठे थे। प्रेमचन्द कुछ बोल रहे थे, जैनेन्द्र सुन रहे थे।

तीन बजे जैनेन्द्र से कहा—"मेरा हाथ दबा दो।" जैनेन्द्र ने दबाया और कहा—"आप कुछ फ़िक्र न कीजिए, बाबूजी, आप अब अच्छे हुए और काम के लिए हम सब लोग हैं ही।" प्रेमचन्द उनकी ओर देखते रहे, फिर बोले, "आदर्श से काम नहीं चलेगा।" जैनेन्द्र ने कहना चाहा, "आदर्श···" बोले, "बहस न करो" कहकर करवट लेकर आँखें मीच लीं ।

जैनेन्द्र ने लिखा : "उस समय मेरे मन पर व्यथा का पत्थर ही मानो रख गया । प्रकार-प्रकार की चिन्ता-दुश्चिन्ता उस समय प्रेमचन्द जी के प्राणों पर बोझ डालकर बैठी हुई थी। मैं या कोई उसको उस समय किसी तरह नहीं बँटा सकता था । चिन्ता का केन्द्र यही था कि 'हंस' कैसे चलेगा । नहीं चलेगा तो क्या होगा । 'हंस' के लिए तब भी जीने की आस उनके मन में थी और 'हंस' न जियेगा यह कल्पना उन्हें असह्य थी ।"

दयानारायण निगम ने लिखा : "7 अक्टूबर की रात बड़ी बेचैनी से कटी । 8 अक्टूबर की सुबह मुँह धोने को मंजन और पानी माँगा, लेकिन लड़का मुँह धुलाने आया तो हालत गैर हो चुकी थी और वह हिल भी न सकते थे ।"

शिवरानी देवी ने लिखा : "दूसरे दिन फिर आपको बेहोशी हुई । बहुत जोर का पखाना भी हुआ । मैं उसे साफ करने के लिए बढ़ रही थी कि भाई ने मेरा हाथ पकड़ कर कहा—'बहन, वे अब नहीं रहे । कहाँ जाती हो ?'

मैं खुलकर रो पड़ी ।"

3

रचना संसार

प्रमचन्द का रचना संसार बहुत व्यापक है। उसमें तत्कालीन भारतीय समाज का बहु-आयामी यथार्थ प्रतिबिंबित हुआ है। उनके साहित्य में एक ओर जहाँ अंग्रेजी साम्राज्य विरोधी राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्राम का चित्रण मिलता है, वहाँ दूसरी ओर भारतीय किसान जीवन के अछूते यथार्थ को उपस्थित किया गया है। अछूतों की मानवीय भावनाओं की धड़कन के साथ-साथ नारी हृदय की पीड़ा भी व्यक्त हुई है। बालकों के सरल मनोविनोद का वर्णन करते हुए प्रेमचन्द ने समाज के शोषक-पीड़क लोगों के लिए "घृणा का प्रचार" भी किया है। उनके साहित्य में सेठ चेत-राम, मोटेराम शास्त्री, ज्ञानशंकर, क्लार्क, राजा महेन्द्र प्रताप, पं० दातादीन जैसे पात्रों के साथ-साथ हामिद, सुमन, कादिर, सूरदास, होरी और धनिया जैसे पात्र भी उपस्थित हैं। सरल मनो-विनोद के साथ-साथ संघर्ष का आह्वान भी है। इस तरह प्रेमचन्द के रचना संसार के अनेक पहलू हैं जिसमें ऐतिहासिक घटनाओं के साथ-साथ समकालीन जीवन का परिदृश्य गुँथा हुआ है।

प्रेमचन्द मुख्यतः उपन्यासकार और कहानीकार के रूप में प्रसिद्ध हैं, हालाँकि उन्होंने तीन नाटकों की भी रचना की है। उन्होंने 13 उपन्यास और लगभग तीन सौ कहानियों की रचना की है। उन्होंने टालस्टाय, गाल्सवर्दी, रतननाथ सरशार आदि प्रसिद्ध रचनाकारों की रचनाओं का अनु-वाद भी किया है। उनके आरम्भिक उपन्यास सुधारवादी चेतना से ग्रस्त हैं। 'हमखुर्मा ओ हम सवाव' (1906 ई०) उपन्यास में अमृतराय एक ऐसा चरित्र है जो आधा सामाजिक और आधा राजनीतिक कार्यकर्ता है। इसी उपन्यास का हिन्दी अनुवाद 'प्रेमा' के नाम से हुआ है। 'रूठी रानी' साधारण ऐतिहासिक उपन्यास है। 'वरदान' (1912) में संन्यासी चरित्र है। यह मूलतः सामाजिक उपन्यास है। लेकिन उनका प्रथम चर्चित उपन्यास 'सेवासदन' है। इसके बाद उन्होंने

क्रमशः 'प्रेमाश्रम' (1921 ई०), 'रंगभूमि' (1925 ई०), 'निर्मला' (1925-26 ई०), 'कायाकल्प' (1926 ई०), 'गबन' (1931 ई०), 'कर्मभूमि' (1932 ई०), 'गोदान' (1936 ई०) जैसे उच्च कोटि के उपन्यास लिखे। प्रेमचन्द के उपन्यासों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है।

उपन्यास

सेवासदन

'सेवासदन' सुमन की कहानी है। सुमन के पिता थानेदार हैं। पुलिस विभाग में रहकर रिश्वत लेने से बचना बहुत कठिन होता है। लेकिन कृष्णचन्द्र रिश्वत से बचते रहे। अन्त में सुमन के विवाह की समस्या आती है। दहेज की भीषणता के सामने उनकी वर्षों से संचित ईमानदारी ढह जाती है। वह पाँच हजार रुपये की रिश्वत लेते हैं, लेकिन अनुभवहीन होने के कारण पकड़े जाते हैं। सुमन की शादी गजाधर नामक नवयुवक से होती है। सुमन माँ-बाप की लाड़ली है, यहाँ उसे आर्थिक तंगी महसूस हो रही है। प्रेमचन्द ने विस्तार से पति-पत्नी के सम्बन्धों के तनाव को चित्रित किया है। स्वाभिमानी सुमन पर उसका पति संदेह करता है और घर से निकाल देता है। रात में अकेली नारी कहाँ जाये ? गजाधर के घर से निकलकर सुमन पड़ौस के वकील पदमसिंह के यहाँ जाती है, लेकिन वहाँ उसे शरण नहीं मिलती। अंततः वह भोली वेश्या के यहाँ चली जाती है और वेश्या बन जाती है। इस बीच वेश्याओं के उद्धार का आन्दोलन चलाया जाता है। वकील साहब इस आन्दोलन के नेता हैं। इधर गजाधर संन्यासी बन जाता है। अंत में सेवासदन की स्थापना की जाती है, जिससे वेश्याओं के सुधार का काम हो सके। इसको वेश्याओं की समस्या और उनके उद्धार का उपन्यास कहा जाता है, लेकिन यह समाज में नारी के स्थान को रेखांकित करता है। यह उपन्यास परिवार में पुरुष और स्त्री के असमान अधिकारों पर चोट करता है। उपन्यास के अंत में गजाधर और सुमन मिल जाते हैं, लेकिन अब उनके जीवन का उद्देश्य मानवता की सेवा है।

प्रेमचन्द ने इस उपन्यास की रचना उर्दू में की, उसी का अनुवाद हिन्दी में प्रकाशित करवाया। प्रेमचन्द के नाम से एकाएक जब हिन्दी पाठकों ने इस पुस्तक को देखा, आश्चर्यमय आनन्द में डूब गये। 'सरस्वती' में तत्काल कालिदास कपूर का प्रशंसात्मक लेख प्रकाशित हुआ। प्रेमचन्द एक गंभीर लेखक के रूप में हिन्दी पाठक समुदाय में प्रतिष्ठित हो गये। उर्दू-साहित्य के लिए 'बाज़ारे-हुस्न' उतनी नयी चीज नहीं थी, जितनी हिन्दी के लिए। हिन्दी में यह एकदम अनूठा विषय था। 'सेवासदन' की सुमन उस नयी नारी की प्रतिनिधि है जो अन्याय और अपमान सहन करते हुए जीना नहीं चाहती। वह प्रतिकार करती है। भारतीय समाज में नारी के आत्मसम्मान के लिए कोई स्थान नहीं है, उसके जीवन से तो वेश्याओं का जीवन वेहतर है। सुमन यह सोचकर

वेश्या बन जाती है, लेकिन सुमन का चरित्र वेश्या के रूप में प्रामाणिक नहीं है। वेश्या बनने की मनोवृत्ति पर उपन्यास का एक पात्र टिप्पणी करता है : "हमें वेश्याओं को पतित समझने का कोई अधिकार नहीं। यह हमारी परम धृष्टता है। हम रात-दिन जो रिश्वतें लेते हैं, सूद खाते हैं, दीनों का रक्त चूसते हैं, असहायों का गला काटते हैं, कदापि इस योग्य नहीं हैं कि समाज के किसी अंग को नीच या तुच्छ समझें। सबसे नीच हम हैं, सबसे बड़े पापी, दुराचारी, अन्यायी हम हैं, जो अपने को शिक्षित, सभ्य, उदार और उच्च समझते हैं। हमारे शिक्षित भाइयों ही की बदौलत दालमंडी आबाद है, चौक में चहल-पहल है, चकलों में रौनक है। यह मीना बाजार हम लोगों ने ही सजाया है, ये चिड़ियाँ हम लोगों ने ही फँसाई हैं। ये कठपुतलियाँ, हमने ही बनाई हैं। जिस समाज में अत्याचारी जमींदार, रिश्वती कर्मचारी, अन्यायी महाजन, स्वार्थी बन्धु आदर और सम्मान के पात्र हों, वहाँ दालमंडी क्यों न आबाद हो, हराम का धन हरामकारी के सिवा और कहाँ जा सकता है। जिस दिन नजराना, रिश्वत और सूद-दर-सूद का अंत होगा, उसी दिन दालमंडी उजड़ जाएगी, ये चिड़ियाँ उड़ जाएँगी—पहले नहीं।" सुमन के जीवन के संदर्भ में इस आर्थिक उत्पीड़न के साथ-साथ दहेज की समस्या भी सामने आती है। ऐसे समाज में जहाँ नारी पराधीन है और वेश्या स्वाधीन है, पुरुष अपनी पत्नी को पीटता है, वेश्या की पूजा करता है वहाँ किसी औरत का वेश्या बन जाना मुश्किल नहीं है। दरअसल प्रेमचन्द ने 'सेवासदन' में उन परिस्थितियों का वर्णन किया है, जिनके कारण स्वाभिमानी नारी या तो आत्महत्या करने पर उतारू होती है या वेश्या बनने के लिए तैयार हो जाती है। सुमन की कथा के सहारे प्रेमचन्द इस बात की जाँच करना चाहते हैं।

सुमन की इस कथा के साथ-साथ प्रेमचन्द ने समाज के अन्य वर्गों का चित्रण भी किया है। इनमें महन्त रामदास, वकील पदमसिंह, शिक्षित युवक सदन, सुमन की छोटी बहन शान्ता, विट्ठलदास आदि उल्लेखनीय हैं। 'सेवासदन' के आश्रमपरक हल की अनेक आलोचकों ने आलोचना की है। लेकिन यह 'हल' ऐतिहासिक सीमाओं से सम्बद्ध है। असल में असहयोग के पूर्व 'समाजोद्धार' की भावना साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र में प्रमुख थी। उद्धार के तरीकों में मतभेद हो सकता है—बस। इस सीमा से 'सेवासदन' बद्ध है। आधुनिक साहित्य में सर्वप्रथम नारी की मुक्ति का सवाल ही मुखर रूप में सामने आया था और प्रेमचन्द से पूर्व भी रचनाकारों की दृष्टि इस ओर गयी थी, लेकिन प्रेमचन्द का यथार्थवाद और वैज्ञानिक जीवन दृष्टि उन लोगों के पास नहीं थी। 'सेवासदन' की सफलता इस बात में है कि 'समस्या' को केन्द्र बनाकर भी इसमें साहित्यिक सरसता को बचाए रखा गया है।

प्रेमाश्रम

'प्रेमाश्रम' की रचना (1918-19 ई०) राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन के गतिरोध के दौर में हुई। प्रथम विश्वयुद्ध (1914-1918 ई०) समाप्त हो चुका था। उसमें अंग्रेजों की जीत हुई।

भारत के राष्ट्रीय नेताओं ने इस युद्ध में अंग्रेजों की सहायता की थी, ताकि भारत को कुछ अधिकार मिल सके। अंग्रेजों ने रौलट बिल (1918 ई०) के द्वारा दमन करना शुरू किया। इधर कांग्रेस में सर्वमान्य नेतृत्व नहीं था। गोखले की मृत्यु (1915 ई०) के बाद कांग्रेस नये नेता की खोज में थी। इसी के साथ किसानों का असन्तोष विद्रोह का रूप धारण कर रहा था। चम्पारन (1917 ई०) और खेड़ा (1918 ई०) में किसान संगठित आन्दोलन कर रहे थे। राष्ट्रीय राजनीति में किसानों की नयी शक्ति का उदय हो रहा था। रूस में सोवियत क्रांति (1917 ई०) पूर्ण हो जाने से किसानों और मजदूरों का महत्त्व और ज्यादा बढ़ गया था। शिक्षित बुद्धिजीवियों ने किसानों की इस शक्ति को देखा—कुछ लोगों ने चिंतित आँखों से और कुछ ने उल्लासपूर्ण आँखों से देखा। प्रेमचन्द ने इसी पृष्ठभूमि में 'प्रेमाश्रम' की रचना शुरू की।

डॉ० रामविलास शर्मा ने 'प्रेमाश्रम' के ऐतिहासिक महत्त्व को रेखांकित करते हुए लिखा है : "हिन्दी में इस तरह का उपन्यास किसी ने पहले लिखा न था। एक तो किसानों पर लिखना ही रसराज का अपमान करना था। उस पर किसी खास आदमी को नायक न बनाना और भी अनोखा प्रयोग था। प्रेमचन्द ने पाप और पुण्य के राक्षस और देवता नहीं रचे। उन्होंने उस धड़-कन को सुना जो करोड़ों किसानों के दिल में हो रही थी। उन्होंने उस अछूते यथार्थ को अपना कथा-विषय बनाया जिसे भरपूर निगाह से देखने का हियाव ही बड़ों-बड़ों को न हुआ था। उन्होंने दिखलाया कि हिन्दुस्तान की साधारण जनता में साहस, धीरता और मनोबल के कौन से स्रोत छिपे पड़े हैं। प्रेमचन्द ने अपना कथा-विषय चुना सदियों से पिसते हुए दासों की चेतना को, जो अब जाग रही थी और उन के हृदय में इन्सान की तरह जीने की तीव्र लालसा पैदा कर रही थी। 'प्रेमाश्रम' लिखना एक अद्भुत साहस का काम था। साहित्य का झंडा लिए हुए प्रेमचन्द ऐसे मार्ग पर चल पड़े जिसे पहले किसी ने तै न किया था। उनकी प्रतिभा का यह प्रमाण है कि उन्होंने जो साहस किया, वह दुःसाहस साबित नहीं हुआ। 'प्रेमाश्रम' एक अत्यन्त लोकप्रिय उपन्यास के रूप में आज भी जीवित है।"

'प्रेमाश्रम' में लखनपुर के जमींदार ज्ञानशंकर की कथा कही गयी है। ज्ञानशंकर का बड़ा भाई प्रेमशंकर घर से भागकर अमेरिका चला गया है। उसके चाचा प्रभाशंकर पुराने जमाने के जमींदार हैं। वह जमींदारी को पारिवारिक प्रतिष्ठा की दृष्टि से देखते हैं। बी० ए० पास ज्ञानशंकर जमींदारी को लाभ की दृष्टि से देखता है और लखनपुर के कारिन्दा गौस खाँ की मार्फत किसानों के शोषण के नये-नये उपाय सोचता रहता है। गौस खाँ ने एक दिन चरावर की जमीन पर पशु चराने की मनाही कर दी और जब मनोहर की पत्नी विलासी पशु चराने के लिए आयी तो उसका अपमान कर दिया गया। इसका बदला लेने के लिए मनोहर गौस खाँ की हत्या कर देता है। अब पुलिस, कच-हरी, डाक्टर आदि की भूमिका शुरू होती है। गौस खाँ की हत्या अकेले मनोहर ने की, लेकिन सारे गाँव के पुरुषों को इसमें लपेट लिया जाता है। बिसेसर को पुलिस मुखबिर बनाने में सफल हो जाती है।

मुकदमा चलता है और निरपराध लोगों को सज़ा दे दी जाती है। मनोहर जेल में आत्महत्या कर लेता है। इधर गाँव में कारिन्दा अत्याचार करता रहता है, कोई विरोध करने वाला नहीं है, शगुन, नजराना, डाँड, दस्तूरी, जुर्माना, बेगार आदि चलती रहती है। इसी बीच प्रेमशंकर वापिस आ जाता है और वह हाजीपुर में किसानों के बीच काम करता है और 'प्रेमाश्रम' खोलता है। वह लखनपुर के किसानों की मदद करता है। उसके प्रभाव से डिप्टी ज्वाला सिंह इस्तीफा दे देते हैं, डॉ० प्रियनाथ चोपड़ा जैसे लोग 'प्रेमाश्रम' में आने लगते हैं। ज्ञानशंकर की नजर अपने श्वसुर कमलानंद और बड़ी साली गायत्री की जायदाद पर है। वह कमलानंद को जहर देता है, गायत्री से प्रेम का नाटक करता है। इन सब घटनाओं से ज्ञानशंकर का अपनी पत्नी विद्या से मनमुटाव होता है और वह आत्महत्या कर लेती है। गायत्री संन्यास ले लेती है और अपनी जायदाद का वारिस ज्ञानशंकर के पुत्र मायाशंकर को बना देती है, लेकिन मायाशंकर की शिक्षा-दीक्षा का दायित्व वह प्रेमशंकर को सौंप जाती है। 'प्रेमाश्रम' की आदर्शवादी शिक्षा का प्रभाव मायाशंकर के किशोर हृदय पर पड़ता है। इसी कारण राजनीतिक अवसर पर वह अपनी जमींदारी से इस्तीफा दे देता है। इस घटना से हताश ज्ञानशंकर आत्महत्या कर लेता है। अब सारे किसान खुशहाल हैं। जमींदारहीन गाँव की स्वर्गिक आभा की झलक प्रेमचन्द ने उपन्यास के अन्त में दिखायी है।

ज्ञानशंकर इस उपन्यास का प्रमुख खलपात्र है। उसे प्रेमचन्द ने अत्यन्त निर्दयी और क्रूर बताया है, साथ ही उसे अन्य लोगों के मुकाबले शक्तिशाली भी बनाया है। संभवतः प्रेमचन्द साहित्य में ज्ञानशंकर से ज्यादा क्रूर और शक्तिशाली कोई भी जमींदार नहीं है। इसका कारण है। अब तक प्रेमचन्द यह मानते हैं कि किसानों की बदहाली का मूल कारण जमींदारी है। राजा और रैयत के बीच के बिचौलिये किसानों के मुख्य शत्रु हैं, यदि इनको समाप्त कर दिया जाय तो किसान खुशहाल हो सकता है। उपन्यास के अन्त में जिस आदर्श गाँव का चित्रण किया गया है, वह अंग्रेजी राज के भीतर इसी तरह का एक ज़मींदारहीन गाँव है।

उपन्यास की इस मूल कथा के साथ-साथ अनेक छोटी-मोटी कथाएँ चलती रहती हैं। इससे 'प्रेमाश्रम' का कथानक ढीला अवश्य हो जाता है, लेकिन उससे हमें सम्पूर्ण समाज का चित्र मिल जाता है। गायत्री के धार्मिक अनुष्ठान, रायसाहब की योग क्रियाएँ, दयाशंकर के कृत्य, आदि प्रसंग इसी कोटि में आते हैं। गायत्री और ज्ञानशंकर की प्रेम कहानी को अधिक खींचा गया है, उसमें इतना तत्व नहीं है। फिर भी उपन्यास रोचक है।

रंगभूमि

'रंगभूमि' की रचना असहयोग आन्दोलन की समाप्ति के बाद हुई। असहयोग आन्दोलन से स्वाधीनता आन्दोलन एक व्यापक जन आन्दोलन का रूप ग्रहण करता है। इसी से महात्मा गांधी भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के सर्वेसर्वा हो जाते हैं। आन्दोलन स्थगित हो जाता है, इसे कुछ लोग

असहयोग की असफलता मानते हैं। कुछ लोग निराश होने लगते हैं। अंग्रेज इसे अमन-चैन की पुनः स्थापना कहते हैं। प्रेमचन्द इस आन्दोलन का पक्ष लेते हैं और इसकी सार्थकता को रेखांकित करते हैं। असहयोग की समाप्ति के बाद लिखा गया यह उपन्यास इसका प्रमाण है। इसमें प्रेमचन्द ने असहयोग आन्दोलन का दृश्य उपस्थित किया है। भारतीय समाज में इस दौरान किन वर्गों ने क्या भूमिका निभाई इसका अंकन इसमें हुआ है।

'रंगभूमि' प्रेमचन्द का महाकाव्यात्मक उपन्यास है। इसका प्रमुख पात्र अंधा भिखारी सूरदास है। वह जाति का चमार है। बनारस शहर के पास पांडेपुर का वह निवासी है। उसके पास थोड़ी सी पैतृक जमीन है। इससे उसे आमदनी नहीं होती। मुहल्ले की गायें-भैंसें वहाँ चरती रहती हैं। बनारस के उद्योगपति मि० जानसेवक उस जमीन को खरीदकर वहाँ सिगरेट का कारखाना खोलना चाहते हैं। सूरदास सिगरेट के कारखाने के लिए जमीन बेचना नहीं चाहता। इधर जानसेवक को यही जमीन सर्वोत्तम लगती है। वह एक तरफ तो सूर को समझाते रहते हैं, कुछ प्रलोभन भी देते रहते हैं, दूसरी तरफ उसे धमकाते भी हैं। मि० जानसेवक ऐसी व्यूह रचना करते हैं कि म्युनिसपलिटी के प्रधान राजा महेन्द्र प्रताप, कुंवर भरतसिंह, जिलाधीश मि० क्लार्क, कौंसिल के मेम्बर मि० गांगुली जैसे प्रभावशाली व्यक्ति उनके समर्थक बन जाते हैं। इधर सूरदास अकेला पड़ जाता है, यहाँ तक कि पांडेपुर के निवासी भी सूरदास के विरोधी हो जाते हैं। अकेला अंधा भिखारी शहर में घूम घूम कर प्रचार करता है, इससे शहर में हलचल मच जाती है। सूर पराजित होता है। उसकी जमीन चली जाती है। कारखाना खुल जाता है, लेकिन वह अपनी हार स्वीकार नहीं करता। जीवन को वह खेल का मैदान समझता है। कारखाना बन जाने के बाद मजदूरों के निवास के लिए और जगह की जरूरत पड़ती है। अबकी बार पांडेपुर खाली करने का हुक्म है। सब लोग मान जाते हैं, लेकिन अकेला सूरदास असहयोग करता है। इससे जन असंतोष भड़कता है। पुलिस आती है और अपने झोंपड़े की रक्षा करता हुआ सूरदास मारा जाता है। इसके बाद प्रेमचन्द ने अंग्रेजी राज से पुलिस के असहयोग का भव्य चित्रण किया है। उपन्यास का अन्त ट्रेजडी में होता है, लेकिन रचनाकार निराश नहीं है। 'रंगभूमि' की इस मूल कथा के साथ-साथ विनय और सोफिया की प्रेम कहानी, विनय की उदयपुर यात्रा, उसकी सेवा मंडली के क्रिया कलाप, इन्दु और राजा साहब का पारिवारिक जीवन, मुंशी ताहिर अली की पारिवारिक परेशानियाँ, भैरों-सुभागी के झगड़े, नायकराय पंडा के कारनामों का वर्णन भी चलता रहता है। आलोचकों का विचार है कि सूरदास के चरित्र पर गांधी जी की छाया है। जो भी हो, यह उपन्यास असहयोग आन्दोलन की झाँकी प्रस्तुत करता है। इस दृष्टि से यह राजनीतिक उपन्यास है।

सूरदास इस उपन्यास का अविस्मरणीय चरित्र है। इसके व्यक्तित्व को रचनाकार ने बहुत ही पावन श्रद्धा से निर्मित किया है। वह अंधा है, अकेला है, चमार है, लेकिन हिम्मती है, सत्य के पक्ष में अकेला खड़ा रह सकता है, अन्याय का शक्ति भर प्रतिकार करता है। उसके कुछ जीवन मूल्य हैं,

जिनकी रक्षा के लिए जीता है और जिनकी रक्षा के लिए मरता है। बस्ती के ही कुछ लोग सूरदास का झोंपड़ा जला देते हैं। जले हुए झोंपड़े के पास सूर और मिठुआ बैठे हुए हैं। दोनों में बातचीत हो रही है :

" मिठुआ—दादा, अब हम रहेंगे कहाँ ?
सूरदास—दूसरा घर बनाएँगे।
मिठुआ—और जो कोई फिर आग लगा दे ?
सूरदास—तो फिर बनाएँगे ।
मिठुआ—और फिर लगा दे ?
सूरदास—तो हम फिर बनाएँगे।
मिठुआ—और जो कोई हजार बार लगा दे ?
सूरदास—तो हम हजार बार बनाएँगे।
मिठुआ—और जो कोई सौ लाख बार लगा दे ?
सूरदास—तो हम भी सौ लाख बार बनाएँगे । "

इस बातचीत में सूरदास का चरित्र स्पष्ट होता है। वह इसी भाव से मि० जानसेवक से, क्लार्क से और इस तरह अंग्रेजी राज से लड़ता है और अन्त तक लड़ता रहता है । सूरदास का यह संघर्ष उसके व्यक्तित्व की शक्ति है। उसके सामने आने वाला प्रत्येक पात्र उसकी शक्ति को नत मस्तक होकर स्वीकार करता है ।

जानसेवक सूरदास का प्रमुख प्रतिपक्षी है। उसका चरित्र यथार्थवादी है। उसके साथ अंग्रेजी राज है, देशी जमींदार और नौकरशाही है। वह सबको अपने पक्ष में करता है, लेकिन किसी एक पर आश्रित नहीं रहता। उसकी अपनी स्वतंत्र शक्ति है और योजना है। मि० क्लार्क जब उसका विरोध करता है तो वह निराश नहीं होता। राजा महेन्द्र प्रताप को, मि० गांगुली को अपने पक्ष में खड़ा कर देता है। अंततः वह विजयी होता है। उपन्यास के अन्त में यही एक ऐसा व्यक्ति है जो जीवित रहता है ।

'रंगभूमि' में प्रेमचन्द ने उदयपुर रियासत का वर्णन भी किया है, जो उपन्यास के कथानक को ढीला करता है। विनय की उदयपुर-यात्रा का प्रसंग उपन्यास का अवान्तर प्रसंग है। इसमें सोफिया (ईसाई) और विनय (हिन्दू) का प्रेम दिखाया गया है । इस प्रेम का अन्त दुःखान्त होता है। विनय आदर्शवादी नवयुवक है। उसके आदर्शवाद में उतार-चढ़ाव आता रहता है और अंततः वह आत्महत्या कर लेता है। वह कर्त्तव्य और प्रेम के द्वन्द्व की मानसिक यातना झेलता रहता है। इस उपन्यास के जमींदार और राजा 'दयनीय' रूप में हमारे सामने आते हैं। अंग्रेज जिलाधीश क्लार्क की उपस्थिति एक महत्त्वपूर्ण घटना है। शायद ही इतना यथार्थवादी अंग्रेज नौकरशाही का चरित्र इससे पहले हिन्दी साहित्य में आया हो। इसका प्रत्येक क्रियाकलाप साम्राज्य

की रक्षा भावना से संचालित होता है। वह स्पष्ट कहता है कि अंग्रेज भारत को सदियों तक अपना गुलाम बनाए रखना चाहते हैं और इस मामले में कंजरवेटिव और लिबरल, रेडिकल और नेशनलिस्ट सभी एक ही आदर्श का पालन करते हैं। प्रेमचन्द की समझ यहाँ क्लार्क के माध्यम से व्यक्त हुई है।

उपन्यास के अन्त में दुःख का माहौल अवश्य है, लेकिन सूरदास की अंधी आँखें भविष्य को देख रही हैं और इस जन जागरण का स्वागत कर रही हैं। इस वातावरण को चीरता हुआ सूरदास का आशावाद पाठकों को आश्वस्त करता है कि हमारी जीत होगी और अवश्य होगी।

निर्मला

प्रेमचन्द ने नारी की पराधीनता को बार-बार रेखांकित किया है। जब भी वह सामाजिक जीवन को रचना का केन्द्र बनाते हैं, तब नारी जीवन को अवश्य ध्यान में रखते हैं। असहयोग आन्दोलन और सविनय अवज्ञा आन्दोलन के बीच उन्होंने ढेरों कहानियाँ इस विषय पर लिखी हैं। 'निर्मला' और 'ग़बन' से नारी जीवन के विविध पहलू सामने आये हैं। 'निर्मला' की विषय-वस्तु संक्षिप्त है। नारी दोहरे अत्याचार का शिकार है। एक तरफ उसे सम्पूर्ण समाज व्यवस्था के अन्तर्विरोधों को झेलना पड़ता है, दूसरी तरफ पुरुष के अत्याचार को भी सहन करना पड़ता है। निर्मला दहेज प्रथा की शिकार है और उसका अनमेल विवाह होता है। उसकी मनःस्थिति का विश्लेषण करते हुए प्रेमचन्द ने लिखा है : "लेकिन निर्मला को न जाने क्यों तोताराम के पास बैठने और हँसने-बोलने में संकोच होता था। इसका कदाचित् यह कारण था कि अब तक ऐसा ही एक आदमी उसका पिता था, जिसके सामने वह सिर झुकाकर, देह चुराकर निकलती थी, अब उसकी अवस्था का एक आदमी उसका पति था।···वही बातें, जिन्हें किसी युवक के मुख से सुनकर उसका हृदय प्रेम से उन्मत्त हो जाता, वकील साहब के मुँह से निकलकर उसके हृदय पर शर के समान आघात करती थीं।" इसी मनःस्थिति के कारण निर्मला का वैवाहिक जीवन असामान्य परिस्थितियों में बीता। संक्षेप में इस उपन्यास की कथा इस प्रकार है :

निर्मला के पिता मुख्तार हैं। निर्मला की शादी एक जगह तय हो जाती है। विवाह की तैयारियाँ होने लगती हैं कि एकाएक उसके पिता की हत्या हो जाती है। सगाई टूट जाती है। अब दहेज की समस्या भीषण रूप धारण करती है। फलतः निर्मला का अनमेल विवाह प्रौढ़ वकील तोताराम से हो जाता है। उनके तीन पुत्र हैं। निर्मला अपने आप को इस परिवार के अनुरूप ढालने का प्रयास करती है। तोताराम अपने बड़े पुत्र मंशाराम को संदेह की दृष्टि से देखते हैं और उसे हॉस्टल में दाखिल करवा देते हैं। यहाँ वह भयानक मानसिक पीड़ा झेलकर अन्ततः आत्महत्या कर लेता है। उनका मँझला बेटा जियाराम चोरी करके घर से भाग जाता है और उनका सबसे छोटा बेटा सियाराम किसी साधु के साथ चला जाता है। वकील साहब इस लड़के को खोजने के

लिए जाते हैं और वापिस नहीं आते । इधर निर्मला की शारीरिक और मानसिक हालत बिगड़ती जाती है । उसके एक बेटी होती है, जिसे वह चाहती है कि अनमेल विवाह की शिकार न होना पड़े । अन्ततः निर्मला भी जीवन के कष्टों का भार ढोती-ढोती मर जाती है । 'निर्मला' में मात्र अनमेल विवाह की समस्या नहीं है, बल्कि इसमें युवती नारी की युवा आकांक्षाओं की सामाजिक परिवेश द्वारा की गयी धीमी धीमी हत्या की मार्मिक कहानी है । उपन्यास का अन्त अत्यन्त करुण प्रसंग में होता है । नारी की पीड़ा का प्रभाव सम्पूर्ण परिवार पर पड़ता है और अन्ततः सारा परिवार नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है । प्रेमचन्द ने पारिवारिक विघटन के मूल में नारी की पराधीनता को रेखांकित किया । हालाँकि निर्मला सुमन के समान प्रतिकार नहीं कर पाती लेकिन कष्ट सहकर जीवन व्यतीत करने वाली भारतीय नारी का प्रतीक अवश्य वन जाती है ।

कायाकल्प

असहयोग आन्दोलन की समाप्ति के बाद व्याप्त राजनीतिक निराशा के दौर में प्रेमचन्द ने 'कायाकल्प' उपन्यास की रचना की । उन्होंने इस उपन्यास में दो कहानियाँ कही हैं—एक, अलौकिक-धार्मिक और दूसरी समसामयिक-राजनीतिक । इन दोनों कहानियों को चक्रधर के पुत्र शंखधर के माध्यम से मिलाने का प्रयास किया गया है ।

उपन्यास की धार्मिक कथा के केन्द्र में जगदीशपुर की रानी देवप्रिया का भोग विलास है । प्रेमचन्द इस कथा के माध्यम से पूर्व और पश्चिम को—धर्म और विज्ञान को मिलाने की परिकल्पना प्रस्तुत करते हैं । इसमें भोग और योग को मिलाकर चिर यौवन की कल्पना की गयी है । यहाँ पुनर्जन्म की कहानी चिर यौवन की साधना है । महेन्द्र शंखधर के रूप में पुनर्जन्म लेता है ।

राजनीतिक कथा के केन्द्र में चक्रधर नामक आदर्शवादी युवक है । आरम्भ में आगरे के दंगों का वर्णन है, चक्रधर इनको रुकवाता है । आगरा की हिन्दू महा सभा के मंत्री यशोदानन्दन की पालित लड़की अहिल्या से उसकी शादी होती है । हरिसेवक सिंह की लड़की मनोरमा को वह पढ़ाता है । मनोरमा उसे श्रद्धा करती है । मनोरमा की शादी ठाकुर विशाल सिंह से होती है । चक्रधर सेवाभावी युवक है । बेगार का विरोध करता है । राजनीतिक जागरण के लिए कार्य करता है, जेल जाता है और अन्त में, साधु हो जाता है । उपन्यास के अन्त में अधिकांश पात्र मर जाते हैं । रानी देवप्रिया अब कमला के रूप में जीवित है और उसे शंखधर के पुनर्जन्म की प्रतीक्षा है । मनोरमा को अब चिड़ियाँ पालने का शौक है और चक्रधर देश-विदेश घूम घूम कर उसके लिए चिड़ियाँ पकड़कर लाता है । उपन्यास का अन्त विषाद और निराशा में होता है । यह विषाद और निराशा वैयक्तिक भी है और राजनीतिक भी ।

'कायाकल्प' प्रेमचन्द का कुछ कमजोर उपन्यास है । उपन्यास की कथा का एक भाग अयथार्थवादी है । संभव है कि तत्कालीन साम्प्रदायिक आध्यात्मिक परिवेश का उन पर प्रभाव पड़ा

हो । इसमें रानी देवप्रिया का कायाकल्प होता है । यथार्थवादी कहानी में भी कायाकल्प होता है । सम्पत्ति और राज्य पाकर अहिल्या का कायाकल्प होता है और वह पति और पुत्र की अवहेलना करती है । ठाकुर विशाल सिंह का दामाद बनकर चक्रधर का कायाकल्प होता है कि वह किसानों को मारता-पीटता है । मनोरमा सम्पत्ति को सब कुछ मानकर विशाल सिंह से शादी करती है और वह अपने व्यक्तित्व से वंचित हो जाती है । एक स्तर पर यह उपन्यास सम्पत्ति की निन्दा करता है, जो उदार से उदार व्यक्ति का 'कायाकल्प' कर डालती है । असहयोग आन्दोलन की समाप्ति के बाद देश में साम्प्रदायिक दंगे हुए । इन दंगों से स्वाधीनता आन्दोलन कमजोर हुआ । इस निराशाजनक वातावरण की निराशा इस उपन्यास में ओत प्रोत है ।

ग़बन

प्रेमचन्द ने 'ग़बन' की रचना स्त्रियों के आभूषण प्रेम का विरोध करने के लिए करनी चाही थी । उसके आरम्भिक हिस्से में यह सामाजिक जीवन प्रमुख है । इसी बीच देश में सविनय अवज्ञा आन्दोलन शुरू हो जाता है, अत: अंतिम हिस्से में यह उपन्यास राजनीतिक हो जाता है ।

रमानाथ इस उपन्यास का नायक है । वह भावुक और अविचारशील युवक है । उसका जन्म निम्न मध्यवर्गीय शिक्षित परिवार में हुआ है । जीवन का कोई ऊँचा आदर्श उसके पास नहीं है । भोग विलास की अतृप्त लालसा से उसका जीवन संचालित होता रहता है । इसी कारण भीरुता और सिद्धान्तहीनता उसके चरित्र में प्रमुख रूप से उभरती है । यह व्यक्ति पूरी तरह से आवेगों में सक्रिय होता है । अत: वह पुलिस से भी डरता है और ईश्वर से भी । अपनी पत्नी जालपा को प्रसन्न करने के लिए वह उधार गहने लाता है, सरकारी रकम खर्च कर डालता है और अन्त में भागकर कलकत्ता चला जाता है । रेल में उसे देवीदीन खटिक मिलता है । कलकत्ता में पुलिस उसे गिरफ्तार करती है और स्वराज्य आन्दोलन के नेताओं के विरुद्ध (झूठा) मुखबिर बनाती है । यहाँ उसका परिचय जौहरा (वेश्या) से होता है । इधर जालपा पति की खोज में कलकत्ता आती है और उससे मिलती है । जालपा के प्रोत्साहन से वह अपना बयान बदल देता है । उसमें सत्य कहने का साहस आता है । कैदी छूट जाते हैं । उपन्यास के अन्त में रतन (वकील की पत्नी) और जौहरा की मृत्यु हो जाती है और शेष पाँच देहात में आकर बस जाते हैं । अब वे चैन के साथ सम्मान-पूर्वक जीवन बिता रहे होते हैं । प्रेमचन्द ने इस कथा के बीच-बीच में शहरी मध्यवर्ग के जीवन के विविध पहलुओं की मनोरम झाँकियाँ प्रस्तुत की हैं ।

'ग़बन' में जालपा का व्यक्तित्व अत्यन्त ओजस्वी है । संस्कारों से वह विलास प्रिय और आभूषण प्रिय है । लेकिन संघर्ष के दिनों में उसका यह आवरण हट जाता है और संघर्ष की आँच से एक नयी जालपा का उदय होता है । ऐसी जालपा, जो निर्मला की तरह चुपचाप कष्ट सहन नहीं करती, या जो सुमन की तरह ध्वंस पर उतारू नहीं हो जाती, बल्कि जो जीवन की चुनौतियों का

साहसपूर्वक मुकाबला करती है। सिद्धान्तहीन और भीरु युवक रमानाथ में वह साहस का संचार करती है। वह पति की पूजा करना अपना धर्म नहीं समझती बल्कि मर्यादा विरुद्ध आचरण करने पर वह पति को फटकारती भी है। उसी की प्रेरणा से रमानाथ कचहरी में सच बोलता है और अपना बयान बदल देता है। जहाँ भी रमानाथ डगमगाता है, जालपा उसे सहारा देती है। नारी का यह प्रेरक रूप 'ग़बन' की जालपा में है। आगे चलकर 'कर्मभूमि' की सुखदा के व्यक्तित्व में भी हमें इन्हीं ओजमय गुणों के दर्शन होते हैं। सुखदा की सहेली रतन है। रतन की पीड़ा अलग है। अनमेल विवाह के बावजूद उसके वकील पति ने उसे पर्याप्त छूट दे रखी है। पति उसे बहुत चाहते हैं। लेकिन पति की मृत्यु के बाद उसकी दशा खराब होती है। सम्पत्ति पर संयुक्त परिवार का अधिकार हो जाता है और वह आश्रित बन जाती है। प्रेमचन्द ने इस नारी विरोधी कानून का विरोध किया। पति की मृत्यु के बाद उसकी सम्पत्ति पत्नी को मिलनी चाहिए। इस धारणा के समर्थन में प्रेमचन्द ने 'बेटों वाली विधवा' कहानी भी लिखी थी।

यूँ पारिवारिक जीवन देवीदीन खटिक का वांछनीय है। पति-पत्नी दोनों मेहनत करते हैं और एक दूसरे का ध्यान रखते हैं। दो पुत्र स्वाधीनता आन्दोलन में वीरगति प्राप्त कर चुके हैं। देश भक्ति के भाव उनमें यथावत हैं। लम्बे जीवन संघर्ष के दौरान साहचर्य जन्य प्रेम और सहयोग इस वृद्ध दम्पती के जीवन में है। छोटे-मोटे मनमुटाव इन लोगों में भी होते हैं, लेकिन वे सम्बन्धों पर स्थायी प्रभाव नहीं डालते। 'ग़बन' में यह परिवार आदर के साथ उपस्थित किया गया है।

कर्मभूमि

'कर्मभूमि' प्रेमचन्द का महत्वाकांक्षाओं से पूर्ण उपन्यास है। इसमें उन्होंने 'प्रेमाश्रम' और 'रंगभूमि' को मिलाने का प्रयास किया है, लेकिन कलात्मक दृष्टि से यह उनका असफल उपन्यास है, इसमें नवीन कल्पना और मौलिकता का अभाव है। पात्र, लेखक की दृष्टि और विषय-वस्तु भी लगभग वही है, जिसके दर्शन हमें पिछले उपन्यासों में हो जाते हैं। इसमें सम्पूर्ण स्वाधीनता आन्दोलन और राष्ट्रीय जागृति को विषय बनाया गया है। किसानों के लगान बन्दी आन्दोलन के साथ-साथ शहर में गरीबों की आवास-समस्या को लेकर किया गया आन्दोलन चित्रित हुआ है। अछूतों के मन्दिर प्रवेश की समस्या भी इसमें है। इन सब आन्दोलनों का नेतृत्व शिक्षित वर्ग कर रहा है।

'कर्मभूमि' के कथानक के तीन आयाम हैं। एक आयाम अमरकांत का पारिवारिक जीवन है, जिसमें सुखदा, समरकांत, नैना आदि पात्र हैं। दूसरा आयाम अमरकान्त और सकीना का प्रेम-सम्बन्ध है। समाज के परम्परागत रूप के विरुद्ध व्यक्ति का वैयक्तिक विद्रोह इस प्रसंग में उद्‌घाटित होता है। कथा का तीसरा आयाम राजनीतिक है। इसमें अमरकांत के सहयोगी डॉ० शांति कुमार, मुन्नी आदि के क्रिया कलाप हैं और जन-जागरण की अभिव्यक्ति रूपी आन्दोलन और सरकारी दमन है। उपन्यास कुल चार भागों में विभाजित है। पहले भाग में अमरकांत का पारिवारिक जीवन

है, जहाँ जीवन मूल्यों की टकराहट पिता-पुत्र के सम्बन्धों में होती है। दूसरे भाग में अछूतों का जीवन है। यहाँ अमरकांत सामाजिक कार्यकर्ता और समाज सुधारक की भूमिका निभाता है। तीसरे भाग में अमरकांत के चले जाने के बाद शहर की राजनीति में हुए परिवर्तन और उसके परिवार की बदलती परिस्थितियों का चित्रण है। इसी में शहर में अछूतों के मन्दिर प्रवेश के अवसर पर अवर्णों और सवर्णों का संघर्ष चित्रित है। विलासिनी सुखदा इस भाग में राजनीतिक कर्मी बन जाती है। चौथे भाग में लगान बन्दी आन्दोलन का वर्णन है। इसमें दिखाया गया है कि किसानों का मुख्य शत्रु अंग्रेजी साम्राज्य है, हालाँकि जमींदार महंत जी के अत्याचार भी कम नहीं हैं। यह आन्दोलन असफल होता है। फिर भी प्रेमचन्द ने इस आन्दोलन का इसलिए समर्थन किया है कि इससे जनता में जागृति फैली है, जो बिना इस आन्दोलन के सम्भव नहीं है। उपन्यास का अन्त आन्दोलनकारियों और सरकार के बीच एकता कायम होने से होता है। प्रेमचन्द ने संकेत दिया है कि यह एकता क्षणिक है, आन्दोलन फिर होगा और अवश्य होगा।

उपन्यास के आरम्भ में अंग्रेज सिपाहियों द्वारा मुन्नी से बलात्कार की घटना का वर्णन है। डॉ० शान्तिकुमार और उनके सहयोगी सिपाहियों की पिटाई करते हैं। मुन्नी के इस अपमान को प्रेमचन्द ने राष्ट्रीय अपमान का मामला बना दिया। यह स्वाधीनता आन्दोलन का वह दौर है जब जरा-सी बात पर जनता विरोध प्रदर्शन के लिए इकट्ठी हो जाती है। यह मुन्नी कुछ दिनों बाद दो गोरों का वध कर देती है। पुलिस उसे गिरफ्तार कर लेती है। यहीं से आन्दोलन की शुरुआत होती है। अछूतों के गाँव में अमर से पहले मुन्नी मौजूद रहती है और किसानों के लगान बन्दी आन्दोलन में भाग लेती है, जेल जाती है। सुखदा के चरित्र में क्रांतिकारी परिवर्तन होता है। विलासिनी सुखदा से वह राजनीतिक कार्यकर्ता बन जाती है। इसके अलावा बुढ़िया पठानिन और सकीना का जीवन और व्यक्तित्व उभर कर सामने आता है। गरीब पठानिन शहर में आन्दोलन का सफल संचालन करती है। राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रभाव से लाला समरकांत में भी परिवर्तन होता है। इतने विस्तृत फलक को प्रेमचन्द ने एक ही उपन्यास में समेटने का प्रयास किया है। इस प्रयास में राजनीतिक सफलता तो मिल गयी है, लेकिन कलात्मक दृष्टि से असफलता ही मिल पाई है।

गोदान

'गोदान' प्रेमचन्द का ही नहीं, हिन्दी साहित्य का भी सर्वश्रेष्ठ उपन्यास है। 'गोदान में प्रेमचन्द ने होरी और धनिया के जीवन के द्वारा भारतीय किसान की दैनिक जिन्दगी को साहित्यिक सरसता के साथ उपस्थित किया है। होरी एक गरीब किसान है। उसके पास थोड़ी-सी जमीन है, एक बेटा गोबर है, सोना और रूपा ये दो बेटियाँ हैं और बहुत सारा ऋण है। ऋण के बोझ से दबे रहते हुए भी उसके मन में गाय खरीदने की आकांक्षा है। इस छोटी-सी इच्छा को पूरी करने के प्रयत्न में ही होरी और धनिया का सारा जीवन व्यतीत हो जाता है। होरी इस अधूरी

आकांक्षा के साथ ही मर जाता है।

एक बार वह किसी तरह यह चिरसंचित आकांक्षा पूरी कर लेता है। भोला से गाय उधार ले लेता है। होरी का अपने भाइयों से मनमुटाव होता है और हीरा गाय को माहुर खिलाकर मार डालता है। उपन्यास का केन्द्रीय कथ्य यहीं से शुरू होता है। गोबर को झुनिया से प्रेम होता है। झुनिया माँ बनने वाली है। गोबर उसे होरी के पास छोड़कर भाग जाता है। थानेदार आता है, बिरादरी की बैठक होती है, सूदखोर झिंगुरी सिंह, पंडित दातादीन, दुलारी सहुआइन, रायसाहब सब आते हैं और सबसे ऊपर और सबके भीतर अंग्रेजी राज आता है और होरी सबका "नरम चारा" है। होरी इनके शोषण का शिकार है, होरी को इस तथ्य की जानकारी नहीं है। प्रेमचन्द ने अद्‌भुत कलात्मक सरलता से इस शोषण की अदृश्य प्रक्रिया का उद्‌घाटन किया है। इतने सारे दुश्मनों से जूझता हुआ अन्ततः होरी मर जाता है। अब ब्राह्मण दातादीन गोदान की माँग करता है। जिस गाय के लिए होरी जीवन भर जूझता रहा और पा न सका, मरने के बाद उसी का दान माँगा जाता है। यह ट्रेजिक विडम्बना 'गोदान' में ओत प्रोत है।

इसके साथ-साथ मेहता, मालती, खन्ना, गोविंदी, रायसाहब, ओंकारनाथ, मिर्ज़ा खुर्शीद आदि पात्रों का जीवन भी चलता रहता है। शहर और गाँव जीवन के विविध पक्षों का अन्तः सम्बन्ध 'गोदान' में चित्रित है। प्रेमचन्द के उपन्यासों में मूल कथा के साथ-साथ अनेक उपकथाएँ भी चलती रहती हैं, जो रचना के यथार्थ को समृद्ध करती रहती हैं। गोबर गाँव छोड़कर शहर में मजदूर बन जाता है। होरी के खेत दातादीन के पास चले जाते हैं और वह अपने ही खेत में मजदूर बन जाता है। इस तरह 'गोदान' में किसान से मजदूर बनने की ऐतिहासिक प्रक्रिया का वर्णन मिलता है।

कुछ आलोचकों ने आरोप लगाया है कि 'गोदान' में गाँव और शहर की कथा अलग-अलग है। दोनों कथाओं के कारण उपन्यास की 'कला' को ठेस पहुँची है। प्रेमचन्द ने दोनों कथाओं के अन्तःसूत्र दिये हैं। गोबर गाँव छोड़कर शहर चला जाता है। वह किसान से मजदूर बन जाता है। रायसाहब अमरपाल सिंह जमींदार हैं, लेकिन वह शहर में रहते हैं और इतनी दूर से कारिंदों के माध्यम से किसानों का शोषण करते हैं। प्रो० मेहता जैसे उदार बुद्धिजीवी देश की दशा का निरीक्षण करने के लिए गाँव जाते हैं और वह होरी के घर ठहरते हैं। मालती गाँव की औरतों से बातचीत करती है और उन्हें स्वास्थ्य सम्बन्धी निर्देश देती है। इधर बैंकर खन्ना शक्कर की मिल खोलता है और उसके एजेण्ट गाँव-गाँव जाकर किसानों से ऊख खरीदते हैं। किसान ऊख मिल में पहुँचाते हैं। यहाँ झिंगुरी सिंह मैनेजर से मिलकर उधार के रुपये वसूल करता है। झिंगुरी सिंह महाजन है, लेकिन वह स्वयं किसी बड़े साहूकार का एजेण्ट है जो शहर में रहता है। गाँव में अंग्रेज सरकार का नौकर पटेश्वरी रहता है। इस तरह 'गोदान' में अनेक ऐसे प्रसंग हैं जो गाँव और शहर को जोड़ते हैं।

'गोदान' में प्रेमचन्द ने किसी आश्रम की स्थापना नहीं की है, बल्कि होरी की मृत्यु करवा दी है। किसानों के उद्धार के उपाय क्या हैं ? यह बेचैनी उनकी निराशा में व्यक्त होती है। उन्होंने पूरी निर्ममता से उस खोखली और निर्मम औपनिवेशिक व्यवस्था का उद्‌घाटन इस उपन्यास में किया है, जिसने भारतीय किसान को तबाह कर दिया है। रचनाकार स्वाधीनता आन्दोलन से भी आश्वस्त प्रतीत नहीं होता है। इस आन्दोलन की जानकारी होरी को है ही नहीं। उल्टे, राय साहब और खन्ना जैसे लोगों का उससे सम्बन्ध दिखाया गया है।

होरी और धनिया भारतीय किसान के प्रतिनिधि हैं। होरी दब्बू और ग़मख़ोर है। धनिया कठोर और जबान की जरा तेज है। धनिया की ताकत का स्रोत कहीं होरी के व्यक्तित्व में है। होरी जब मरता है तो लगता है कि धनिया को शक्तिहीन कर गया है। यूँ होरी कायर नहीं है। राय साहब के यहाँ पठान (मि० मेहता) आकर मालती को भगा ले जाना चाहता है, ऐसे समय में होरी अकेला उससे भिड़ जाता है। होरी ने अपने जीवन के संघर्षों से यह सबक लिया है कि किसान की कुशल दबे रहने में ही है। यह सारी राजनीतिक-आर्थिक व्यवस्था किसान के साहस का सम्मिलित विरोध करती है। किसान जब तक असंगठित है, तब तक उसका वैयक्तिक साहस निरर्थक है। संगठित साहस सरकार को झुका सकता है, लेकिन देश के किसान संगठित नहीं हैं। शायद यही कारण है कि होरी का ढीला-ढाला दब्बू व्यक्तित्व उसे भारतीय किसान का प्रतिनिधि चरित्र बनाता है। 'गोदान' आदि से अंत तक होरी और धनिया के जीवन की करुण दास्तान है।

कहानियाँ

उपन्यासकार प्रेमचन्द और कहानीकार प्रेमचन्द में से कौन बड़ा है ? इस विषय पर आलोचकों में मतभेद है। कुछ लोग उपन्यासकार प्रेमचन्द को ज्यादा महत्व देते हैं, क्योंकि उपन्यासों में प्रेमचन्द ने जीवन के समग्र यथार्थ का चित्रण किया है। कहानीकार प्रेमचन्द को महत्व देने वालों का मत है कि उपन्यास में समग्र यथार्थ को समेटने के प्रयास से उनका कलात्मक रूप बिखर-सा गया है। जबकि कहानियाँ कलात्मक दृष्टि से सुगठित हैं। प्रेमचन्द ने कई कमजोर कहानियाँ लिखीं और अनेक श्रेष्ठ कहानियाँ भी लिखीं। उनकी श्रेष्ठ कहानियों की श्रेष्ठ उपन्यासों से तुलना करके देखा जा सकता है।

प्रेमचन्द ने उपन्यास और कहानी का (जिसे उन्होंने आख्यायिका भी कहा है) अन्तर स्पष्ट करते हुए लिखा है : "उपन्यास में आपकी कलम में जितनी शक्ति हो उतना जोर दिखाइए, राजनीति पर तर्क कीजिए, किसी महफिल के वर्णन में दस-बीस पृष्ठ लिख डालिए, (भाषा सरस होनी चाहिए) ये कोई दूषण नहीं। आख्यायिका में आप महफिल के सामने से चले जाएँगे, और बहुत उत्सुक होने पर भी आप उसकी ओर निगाह नहीं उठा सकते। वहाँ तो एक शब्द, एक वाक्य भी ऐसा न होना

चाहिए, जो गल्प के उद्देश्य को स्पष्ट न करता हो। इसके सिवा, कहानी की भाषा बहुत ही सरल और सुबोध होनी चाहिए। उपन्यास वे लोग पढ़ते हैं, जिनके पास रुपया है, और समय भी उन्हीं के पास रहता है, जिनके पास धन होता है। आख्यायिका साधारण जनता के लिए लिखी जाती है, जिनके पास न धन है, न समय। यहाँ तो सरलता पैदा कीजिए, यही कमाल है।"

इसआधार पर प्रेमचन्द के उपन्यासों और कहानियों को देखा जा सकता है। उनके उपन्यासों की विषय-वस्तु गंभीर होती है और उसका उचित निर्वाह करते हुए रचना की शैली में भी यह गंभीरता आ जाती है। कहानियों में यह बाधा नहीं आती। अतः प्रेमचन्द कहानी कहते हुए जितने सहज और मुक्त होते हैं, उतने उपन्यास लिखते हुए नहीं। उपन्यास के विस्तृत फलक के बीच-बीच में वह ऐसे अवसर खोजते रहते हैं। शायद यही कारण है कि उनके उपन्यासों की विषय-वस्तु का मुख्य हिस्सा आर्थिक और राजनीतिक जीवन से संबंधित है। कहानी में उन्होंने सामजिक-सांस्कृतिक जीवन को प्रमुखता दी है। 'सवा सेर गेहूँ' में शंकर के आर्थिक शोषण का वर्णन मुख्य है, लेकिन किसान जीवन सम्बन्धी अनेक कहानियाँ ऐसी हैं जिनमें ये समस्याएँ पृष्ठभूमि में चली गयी हैं, इनमें 'सुजान भगत', 'पंच-परमेश्वर', 'स्वामिनी', 'दो भाई', 'बैर का अंत', 'बावाजी का भोग', 'घर जमाई', 'अल-ग्योझा' आदि मुख्य हैं। असल में प्रेमचन्द उपन्यासों में एक से अधिक कहानी कहते चलते हैं। उसमें अनेक पात्रों का जीवन चलता रहता है। उसमें भी वह उनके आर्थिक और राजनीतिक जीवन को प्रमुखता देते हैं। फिर भी ऐसे अनेक प्रसंग बचे रह जाते हैं, जिन पर वह उपन्यास में कुछ लिख नहीं पाते। कहानी उन्हें ऐसा अवसर देती है। इसीलिए 'मोटेराम शास्त्री' जैसे चरित्र कहानियों में आ पाते हैं। या नारियों के आभूषण-प्रेम को लेकर अनेक कहानियों की रचना कर डाली गयी, हालाँकि इस समस्या को उन्होंने 'ग़बन' में भी उठाया था।

चूँकि कहानी कहते हुए रचनाकार मुक्त हो जाता है अतः प्रेमचन्द मजे ले लेकर कहानी सुनाते चलते हैं। उनकी कहानियों में रचनाकार रोनी सूरत बनाए हुए दार्शनिक रंग धारण नहीं करता, बल्कि हँसता-हँसाता चलता है। यहाँ तक कि दुःख और अभाव का वर्णन भी वह मजे ले लेकर करते हैं। गंभीर से गंभीर विषय और पात्र को भी प्रेमचन्द कहानी में जरा-से हल्केपन से लाते हैं। 'बड़े भाई साहब' इसका प्रमाण है। इस 'हल्केपन' के कारण कहानी का तीव्र प्रभाव पड़ता है। यहाँ तक कि 'कफन' जैसी कहानी में भी रचनाकार मस्ती में ही चलता हुआ दिखायी देता है।

प्रेमचन्द के उपन्यासों और कहानियों के विषय लगभग समान हैं। अन्तर सिर्फ़ एक है। उन्होंने 'रूठी रानी' को छोड़कर कोई ऐतिहासिक उपन्यास नहीं लिखा है, लेकिन कहानी में वह इतिहास का भी सहारा लेते हैं। 'राजा हरदौल', 'रानी सारंधा' जैसी कहानियाँ ही नहीं, 'नबी का नीति निर्वाह', 'क्षमा', 'शतरंज के खिलाड़ी' जैसी प्रसिद्ध कहानियाँ ऐतिहासिक हैं। इस संदर्भ में एक तथ्य महत्वपूर्ण है। उन्होंने अधिकतर मध्ययुगीन इतिहास को ही कहानी का आधार

बनाया है। अब तक प्राचीन काल को ही साहित्य का विषय बनाने की परिपाटी चली आ रही थी।

प्रेमचन्द ने लगभग 300 कहानियाँ लिखी हैं, उनमें विषय और रूप की दृष्टि से पर्याप्त विविधता है। प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों का ढाँचा बचपन में पढ़े हुए विशाल ग्रंथों से तैयार किया है। अतः 'निर्मला' को छोड़कर अन्य सभी उपन्यास विशालकाय हैं। कहानी की संरचना पर कज़ाकी की लोक कथाओं का रंग दिखायी देता है। अक्सर उनकी कहानियाँ भूत काल में चलती हैं। "किसी गाँव में शंकर नाम का एक कुरमी किसान रहता था। सीधा-सादा गरीब आदमी था, अपने काम से काम, न किसी के लेने में न देने में।" इस शंकर की कहानी के पश्चात रचना फिर वर्तमान काल में आती है। "पाठक इस वृतान्त को कपोल-कल्पित न समझें। यह सत्य घटना है। ऐसे शंकरों और ऐसे विप्रों से दुनिया खाली नहीं है।"

(सवा सेर गेहूँ) कहानी में लोक कथाओं का रंग स्पष्ट झलकता है। इसी तरह :

"पण्डित हृदयनाथ अयोध्या के एक सम्मानित पुरुष थे।"

(नैराश्य लीला)

"ईरान और यूनान में घोर संग्राम हो रहा था।"

(धिक्कार)

"विपिन बाबू के लिए स्त्री ही संसार की सबसे सुन्दर वस्तु थी।"

(स्त्री और पुरुष)

"कुँवर पृथ्वी सिंह महाराज यशवंत सिंह के पुत्र थे।"

(पाप का अग्नि कुंड)

प्रेमचन्द की कहानियों की शुरुआत सहज और प्रभावशाली तरीके से होती है। कथ्य का प्रभाव पहले वाक्य से पड़ना शुरू हो जाता है। लोक कथाओं की तरह कहानी की शुरुआत तो उनके यहाँ है ही। कई बार जीवन के सूक्ष्म निरीक्षण से भी कहानी शुरू हो सकती है। ऐसा निरीक्षण मूल कथ्य के बाह्य संदर्भों से सम्बन्ध को प्रकट करता है। 'मुक्ति मार्ग' की शुरुआत यों होती है : "सिपाही को अपनी लाल पगड़ी पर, सुन्दरी को अपने गहनों पर और वैद्य को अपने सामने बैठे हुए रोगियों पर जो घमंड होता है, वही किसान को अपने खेतों को लहराते हुए देखकर होता है।" यहाँ हल्के से व्यंग्य भाव से प्रेमचन्द ने किसान का महत्व संकेतित कर दिया है।

'तेतर' की शुरुआत नाटकीय ढंग से होती है। शुरू में ही रचनाकार प्रमुख पात्रों के मनोभावों पर टिप्पणी कर देता है :

"आखिर वही हुआ जिसकी आशंका थी, जिसकी चिन्ता में घर के सभी लोग और विशेषतः प्रसूता पड़ी हुई थी। तीन पुत्रों के पश्चात् कन्या का जन्म हुआ।" यह नाटकीयता जिज्ञासा और आश्चर्य पैदा करती है। 'बूढ़ी काकी' की शुरुआत सहज ज्ञानपूर्ण वाक्य से होती है : "बुढ़ापा बहुधा बचपन का पुनरागमन हुआ करता है।"

सरल हास्य और अटूट व्यंग्य में प्रेमचन्द का जवाब नहीं। 'कानूनी कुमार' की शुरुआत देखिए :

"मि० कानूनी कुमार, एम० एल० ए०, अपने आफिस में समाचार पत्रों, पत्रिकाओं और रिपोर्टों का एक ढेर लिए बैठे हैं। देश की चिन्ताओं से उनकी देह स्थूल हो गयी है, सदैव देशोद्धार की फिक्र में पड़े रहते हैं।" असल में प्रेमचन्द अपने पात्रों के तर्कों मे थोड़ा-सा व्यंग्य डाल देते हैं, जिससे कहानी की स्वाभाविकता के साथ व्यंग्य के छींटे भी पड़ते रहते हैं।

प्रेमचन्द की कहानियों के विषय और शैली पर्याप्त विविधता लिए हुए हैं। 'ईदगाह', 'वैर का अन्त' में उन्होंने निर्दोष बच्चों की आँखों से इस क्रूर यथार्थ को दिखाया है। 'बड़े भाई साहब' और 'विनोद' में स्कूली छात्रों के मनोभावों और उनकी जीवन पद्धति का वर्णन है। 'पूस की रात' और 'सवा सेर गेहूँ' में भारतीय किसान की आर्थिक समस्याएँ हैं। 'सुजान भगत' और 'स्वामिनी' में किसानों का सामाजिक जीवन है। 'सज्जनता का दंड' और 'नमक का दरोगा' में नौकरशाही के भ्रष्टाचार का भंडा फोड़ किया गया है। 'कौशल' में औरतों की आभूषण-प्रियता की मनोरम झाँकी है। 'कुसुम' और 'निर्वासन' में नारी विरोधी समाज पर चोट की गयी है। 'मोटे राम शास्त्री' और 'सत्याग्रह' में भोजन भट्ट ब्राह्मणों का मखौल उड़ाया गया है। 'हिंसा परमो धर्म.' और 'मन्दिर और मसजिद' में साम्प्रदायिक समस्या का चित्रण मिलता है। 'सद्गति' और 'मन्दिर' में अछूतों का जीवन उपलब्ध है। 'मंत्र' में शुद्धि आन्दोलन की निरर्थकता बतायी गयी है। 'बेटों वाली विधवा' में नारी विरोधी कानूनों पर प्रहार किया गया है। 'मृतक भोज' में सड़ी गली सामाजिक परम्पराओं की अमानवीयता दिखायी गयी है। 'बड़े घर की बेटी' और 'अलग्योझा' में संयुक्त परिवार का विघटन है। 'शतरंज के खिलाड़ी' में पतनशील सामंती पात्रों की दास्तान है। 'रानी सारंधा' और 'राजा हरदौल' में अतीत के गौरव का गान है। 'जुलूस' और 'समर यात्रा' में स्वाधीनता आन्दोलन के दृश्य दिखाये गये हैं। 'मैकू' और 'शराब की दूकान' में शराब की दूकानों पर दिये गये धरने हैं। चकलों में विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार का दृश्य दिखाया गया है। इस तरह उनकी तीन सौ के लगभग कहानियों में भारतीय समाज के जीवन के अनेक दृश्य समाहित हो गये हैं।

प्रेमचन्द निरुद्देश्य कहानीकार नहीं हैं। वह 'कला कला के लिए' सिद्धान्त के विरोधी हैं। वह कला को उपयोगी मानते हैं। उनके साहित्य में राष्ट्रीय जागरण की अभिव्यक्ति हुई है। कहानी को भी वह सामाजिक परिवर्तन में सहायक मानते हैं। उद्देश्यों से पूर्ण होते हुए भी उनमें नैतिक शिक्षा का प्राधान्य नहीं है। किस्सागो और शिक्षक का व्यक्तित्व मिलकर कहानीकार प्रेमचन्द बनता है। इसका कारण यह है कि उनकी कहानियाँ अमूर्त विचार को मूर्त करने के लिए उदाहरण के रूप में नहीं लिखी गयी हैं बल्कि जीवन के ज्ञान और अनुभव की जिन्दा जमीन से निर्मित होती हैं। जिन कहानियों में स्पष्ट उद्देश्य हैं, उनमें भी जीवन का प्रवाह है। 'बेटों वाली विधवा' इस

तरह की कहानियों का उत्तम उदाहरण है। नारी विरोधी (सम्पत्ति) कानून का विरोध यह कहानी करती है, लेकिन इस कहानी में फूलमती और उसके पुत्रों और बहुओं के बनते बिगड़ते सम्बन्धों का प्रभाव ज्यादा मुखर है। यही कारण है कि यह कहानी कहानी है, नीति कथा नहीं है। कहानियों में प्रेमचन्द जिनका विरोध करते हैं उन पर हास्य का प्रहार करते हैं। उनकी घृणा हास्य के आवरण में लिपट कर आती है और शायद उसकी प्रभाव शीलता का कारण भी यही है।

प्रेमचन्द की कहानियों का उनकी रचना-यात्रा के साथ-साथ विकास हुआ है। उन्होंने 30 वर्षों के रचनाकाल में एक जैसी कहानियाँ नहीं लिखीं। 'सोज़े वतन' (1909 ई०) की कहानियों में भावुक देश प्रेम की ललकार है। इसके बाद उनमें 'बड़े घर की बेटी' की यथार्थवादी परम्परा आती है। असहयोग आन्दोलन के पूर्व की कहानियों में समकालीन समाज-व्यवस्था की दुर्व्यवस्था पर व्यंग्य किया है और साथ ही अपने पात्रों को सुधारवादी दृष्टि से बदल दिया है। 'नमक का दरोगा', 'पंच-परमेश्वर' जैसी कहानियाँ इसी तरह की हैं। असहयोग आन्दोलन के बाद प्रेमचन्द ने कुछ राजनीतिक कहानियाँ लिखीं, जिनमें 'अधिकार चिन्ता', 'लाग डाँट', 'स्वत्व रक्षा' आदि मुख्य हैं। प्रेमचन्द ने 1924 ई० में बहुत अच्छी यथार्थवादी कहानियाँ लिखीं। इस वर्ष उन्होंने 'शतरंज के खिलाड़ी', 'सवा सेर गेहूँ', 'मुक्ति मार्ग' जैसी सशक्त कहानियों की रचना की। इनके बाद उन्होंने कुछ तो सामाजिक जीवन की कहानियाँ लिखीं, कुछ साम्प्रदायिकता विरोधी कहानियाँ और कुछ संस्मरणात्मक कहानियाँ लिखीं। सविनय अवज्ञा आन्दोलन (1930) के बाद 'जुलूस', 'मैकू' जैसी राजनीतिक कहानियाँ आईं। अंतिम दौर में प्रेमचन्द ने 'कफन' जैसी महान यथार्थवादी कहानी की रचना की। कहानियों की दृष्टि से उनका श्रेष्ठ रचनाकाल 1923-24 ई० और 1934-36 ई० के वर्ष माने जायेंगे।

प्रेमचन्द की कई कहानियाँ अत्यन्त लोकप्रिय हुई हैं। हिन्दी के किसी भी अन्य कहानीकार की तुलना में उनकी श्रेष्ठ कहानियों की संख्या ज्यादा है। उनमें से कुछ ये हैं : 'बड़े घर की बेटी', 'पंच-परमेश्वर', 'नमक का दरोगा', 'बूढ़ी काकी', 'आत्माराम', 'लाग डाँट', 'सवा सेर गेहूँ', 'शतरंज के खिलाड़ी', 'मुक्ति मार्ग', 'चोरी', 'रामलीला', 'कज़ाकी', 'सुजान भगत', 'पूस की रात', 'ठाकुर का कुआँ', 'सद्गति' और 'कफन'।

4

भारतीय किसान

प्रेमचन्द की पत्नी शिवरानी देवी ने बस्ती-निवास के दिनों की एक घटना का वर्णन किया है। वहाँ चुनाव हो रहा था। अनेक लोग मैदान में थे। एक कांग्रेसी भी चुनाव लड़ रहा था। प्रेमचन्द ने किसानों से कांग्रेस को वोट देने के लिए कहा। संयोग से एक उम्मीदवार कुर्मी था। वोट के समय कुर्मी किसानों ने कांग्रेस उम्मीदवार को वोट नहीं दिया। इस घटना से कुछ लोग उत्तेजित हो गये और प्रेमचन्द को किसानों के विरुद्ध भड़काने लगे। प्रेमचन्द ने उन लोगों को फटकारते हुए कहा, "तुम क्या बकते हो ? मेरे जीवन का यही ध्येय है, काश्तकारों को सुधारना। मेरी इस बात की कीमत ही क्या, जिसके पीछे मैं सबको तबाह कर दूँ। लोगों ने न माना तो अपनी हानि की, न कि मेरी। मैं उन्हें तबाह कर दूँ, यह शराफत नहीं है। फिर मैं तो चाहता हूँ वे अपने पैरों पर खड़े हों। आज मैं उनको भला बताता रहा हूँ। कल शायद उन्हें कोई धोखा दे। भेड़ों की तरह किसी के इशारों पर पब्लिक का चलना कहाँ तक ठीक है ? मैं इसे मुनासिब नहीं समझता। उन्होंने खुद समझकर जो भी किया अच्छा किया। अब सब में कुछ-न-कुछ समझदारी आ गई है।"

देहातों में नौकरी करते हुए प्रेमचन्द ने भारतीय किसान की वास्तविक हालत को अपनी आँखों से देखा और उनकी दशा सुधारने की प्रबल आकांक्षा उनके मन में जाग्रत हुई। प्रेमचन्द राष्ट्रीय जागरण के साहित्यकार हैं। उन्होंने समकालीन भारत के अधःपतन की कारण-प्रक्रिया का विवेचन किया और अपने साहित्य के द्वारा उन्हें दूर करने का प्रयास किया। इस प्रक्रिया में उन्होंने समाज सुधार की ओर ध्यान दिया। समाज सुधार की भावना सबसे पहले नारी की स्थिति की ओर ले गयी और अंततः वेश्याओं की स्थिति की भयावहता ने रचनाकार प्रेमचन्द को आन्दोलित किया। उन्होंने 'सेवासदन' (1916 ई०) में वेश्याओं की स्थिति का चित्रण किया है। प्रेमचन्द ने समाज

सुधार को सिर्फ धार्मिक और सांस्कृतिक सुधार तक ही सीमित नहीं रखा बल्कि उन्होंने जनता की राजनीतिक और आर्थिक परेशानियों को भी सामने रखा। संभवतः यही कारण है कि प्रेमचन्द ने सुधारवादी आन्दोलनों की सीमाओं से अपने आप को मुक्त कर लिया और राजनीतिक आन्दोलनों के नजदीक कर लिया।

सामाजिक जीवन के परिवर्तन और सुधार के लिए एक संगत जीवन की स्पष्ट परिकल्पना भी आवश्यक होती है। यह परिकल्पना जितनी यथार्थ और मानवीय होती है, रचनाकार का जीवन सम्बन्धी ज्ञान भी उतना ही सच्चा होता है। सुधार की इसी आकांक्षा से प्रेरित उनकी दृष्टि भारतीय किसानों की ओर भी गई। 'आलिवर क्रामवेल' (1903) की जीवनी पर लिखते हुए उन्होंने लिखा है : "ऐसा बहुत कम संयोग हुआ है कि एक साधारण शांति प्रेमी किसान के रोजाना हालात विस्तार के साथ लिखे हुए मिल सकते हों या उनमें किस्सों की सी दिलचस्पी और अजब-अनोखी बातें पायी जाती हों।" रचनाकार प्रेमचन्द के दिमाग में कहीं न कहीं यह चुनौती काम कर रही थी। भारतीय साहित्य में प्रेमचन्द पहले रचनाकार हैं, जिन्होंने साहित्य में किसानों को प्रवेश दिलाया। 'पंच-परमेश्वर' (1916 ई०) कहानी के अलगू चौधरी और जुम्मन शेख भारतीय साहित्य के पहले किसान चरित्र हैं। इस दृष्टि से 'प्रेमाश्रम' उपन्यास का ऐतिहासिक महत्व है।

प्रेमचन्द की दृष्टि चाहे सुधार के लिए गयी हो, लेकिन अंततः वह किसानों के रचनाकार बन गये। उन्होंने संपूर्ण स्वाधीनता आन्दोलन में किसानों के प्रतिनिधि के रूप में हिस्सा लिया। 'प्रेमाश्रम' में मायाशंकर किसानों की स्थिति का जो विवरण प्रस्तुत करता है, उसके पीछे निहित आवेगमय क्रोध रचनाकार प्रेमचन्द का है। 'सोजे वतन' का देश प्रेम मध्यवर्ग के भावुक युवक का देश प्रेम है, लेकिन 'प्रेमाश्रम' से जिस देश प्रेम की शुरुआत होती है, वह विशाल किसान जनता का देश प्रेम है। प्रेमचन्द देशभक्तों का सवाल उठाते हुए, इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि सच्चा देश-भक्त तो किसान है। अन्य वर्ग के लोगों के लिए "जाति सेवा बड़े अंशों तक केवल चन्दे माँगना है।"

जिस समय प्रेमचन्द 'प्रेमाश्रम' की रचना कर रहे थे, उस समय संसार में दो महत्वपूर्ण घटनाएँ घट रही थीं—एक प्रथम विश्वयुद्ध (1914-1918), दूसरी, रूस में साम्यवादी क्रांति (1917 ई०)। इसी समय भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की दृष्टि भी गाँवों की ओर गयी। चम्पारन और खेड़ा के किसान आन्दोलनों में कांग्रेस के कई नेताओं ने भाग लिया। महात्मा गांधी इन्हीं आन्दोलनों के साथ-साथ भारतीय राजनीति में सक्रिय हिस्सा लेना शुरू कर रहे थे। पंडित जवाहरलाल नेहरू ने भी रायबरेली और प्रतापगढ़ के किसानों के बीच काम किया। इस राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में प्रेमचन्द ने भारतीय किसानों को उपन्यास में उपस्थित किया। युद्ध और क्रांति ने, प्रेमचन्द के अनुसार, "बेजुबानों की ताकत को जाहिर" कर दिया। रूस में स्थापित नयी समाजवादी व्यवस्था को प्रेमचन्द बहुत आशा से देख रहे थे और भीतर ही भीतर विश्व व्यवस्था के साम्यवादी

विश्लेषण से सहमत हो रहे थे। उन्होंने 21 दिसम्बर 1919 को एक पत्र में दयानारायण निगम को लिखा : "मैं अब करीब-करीब बोल्शेविक उसूलों का कायल हो गया हूँ ।"

प्रेमचन्द ने 'प्रेमाश्रम' में किसानों के महत्व को प्रतिष्ठित किया है । 'प्रेमाश्रम' का बलराज कहता है : "तुम लोग तो ऐसी हँसी उड़ाते हो, मानों कास्तकार कुछ होता ही नहीं । वह जमींदार की बेगार ही भरने के लिए बनाया गया है, लेकिन मेरे पास जो पत्र आता है, उसमें लिखा है कि रूस देश में कास्तकारों का राज है, वह जो चाहते हैं करते हैं । उसी के पास कोई और देश बलगारी है । वहाँ अभी हाल की बात है कास्तकारों ने राजा को गद्दी से उतार दिया है और अब किसानों और मजदूरों की पंचायत राज करती है ।"

इस उपन्यास पर सुधारवादी आन्दोलनों और रूसी क्रांति का सम्मिलित प्रभाव है । इसमें प्रेमचन्द ने जमींदारी तंत्र का उद्घाटन किया है और किसान के शोषण की सम्पूर्ण प्रक्रिया का वर्णन किया है । किसानों के शोषण में चपरासी, कारिंदा, जमींदार, सरकारी कर्मचारी, पुलिस, वकील, डाक्टर आदि शामिल हैं । प्रेमचन्द ने इस उपन्यास में जमींदार को किसान का मुख्य शोषक बताया है और इसी कारण ज्ञानशंकर को इतना कुटिल और भयावह रूप में चित्रित किया गया है । असहयोग आन्दोलन के बाद में प्रेमचन्द ने किसानों का मुख्य शोषक अंग्रेजी राज को बताया है । जमींदार तो अंग्रेजों के शोषण की आड़ है । संग्राम नाटक में उन्होंने इस भूल को सुधारा है । बाद के किसी भी उपन्यास में प्रेमचन्द ने किसी जमींदार पात्र को इतना शक्तिशाली नहीं दिखाया है । 'गोदान' के जमींदार रायसाहब अमरपालसिंह टूटते हुए वर्ग के पात्र हैं । शोषण के माध्यमों में लगान मुख्य है । लगान के अलावा जुर्माना, दंड, इजाफा लगान, बेगार, शगुन, डांड आदि माध्यम हैं । इन सब का विस्तृत वर्णन प्रेमचन्द ने किया है । 'प्रेमाश्रम' के बाद उन्होंने लाग डाँट, समर यात्रा, सुजान भगत स्वामिनी, अलग्योझा, सवा सेर गेहूँ, पूस की रात, मुक्ति मार्ग आदि कहानियों में किसान जीवन के विविध पक्षों का चित्रण किया है । इस विशाल साहित्य में प्रेमचन्द ने चिंतित आँखों से किसानों के मजदूर बनते जाने की प्रक्रिया का चित्रण किया है। 'गोदान' में इसकी मार्मिक कहानी कही गयी है । 'गोदान' में किसानों के कुछ और शोषक भी आ गये हैं, इनमें धार्मिक पुजारी, सूदखोर; बिरादरी, बैंकर और अंततः अंग्रेजी राज मुख्य हैं। 'गोदान' का होरी इस प्रक्रिया से अनजान है । रचनाकार प्रेमचन्द अद्भुत कलात्मक खूबी से इस शोषण की प्रक्रिया का उद्घाटन करते हैं । 'गोदान' में प्रेमचन्द ने उस आरंभिक रचनात्मक चुनौती का जवाब दे दिया है । होरी और धनिया के दैनिक जीवन को उन्होंने साहित्यिक सरसता से प्रस्तुत कर दिया है। दैनिक जीवन में किसानों के व्यबहार, उनके आपसी संबंधों का इतना विस्तृत वर्णन प्रेमचन्द ने अपने साहित्य में किया है कि प्रेमचन्द किसानों के लेखक के रूप में पहचाने जाने लगे हैं ।

'पुराना जमाना : नया जमाना' (1919 ई०) में प्रेमचन्द ने लिखा है, "क्या यह शर्म की बात नहीं है कि जिस देश में नब्बे फीसदी आबादी किसानों की हो उस देश में कोई किसान सभा,

कोई किसानों की भलाई का आन्दोलन, कोई खेती का विद्यालय, किसानों की भलाई का कोई व्यक्तिगत प्रयत्न न हो ।" राजनीतिक नेताओं को चेतावनी देते हुए उन्होंने आगे लिखा है : "हमारे कौंसिलरों और राजनीतिक नेताओं का कर्तव्य है कि वे अपने प्रस्तावों की परिधि को फैलायें और जनता (यानी काश्तकारों) की हिमायत का एक प्रोग्राम तैयार करें और उसे अपनी कार्य प्रणाली बना लें । स्वराज्य की बेकार और बेमतलब सदाओं पर तकिया करके बैठने का वक्त अब नहीं क्योंकि आने वाला जमाना अब जनता का है और वह लोग पछतायेंगे जो जमाने के कदम मे कदम मिलाकर न चलेंगे ।"

प्रेमचन्द के लिए स्वराज्य का अर्थ और उद्देश्य स्पष्ट थे । उनके लिए स्वराज्य का अर्थ किसानों के लिए स्वराज्य है । उनके अनुसार "स्वराज्य किसानों की माँग है, उन्हें जिन्दा रखने के लिए आवश्यक है, अनिवार्य है ।" किसानों की गरीबी और बदहाली का कारण कुछ बुद्धिजीवियों ने उनकी निरक्षरता को बताया । प्रेमचन्द ने ऐसे बुद्धिजीवियों की आलोचना करते हुए 27 फरवरी 1934 को लिखा : "किसान इसलिए तबाह नहीं है कि वह साक्षर नहीं है, बल्कि इसलिए कि जिन दशाओं में उसे जीवन का निर्वाह करना पड़ता है, उनमें बड़े से बड़ा विद्वान भी सफल नहीं हो सकता । उसमें सबसे बड़ी कमी संगठन की है, जिसके कारण जमींदार, साहूकार, अहलकार सभी उस पर आतंक जमाते हैं ।"

'गोदान' में एक जगह किसान "नकल" करते हैं । महाजन के पास एक किसान 10 रुपये उधार लेने जाता है । महाजन उसे 5 रुपये देता है और कहता है कि 10 रुपये हैं । किसान के जिद करने पर वह सारा हिसाब समझाते हुए कहता है कि एक रुपया नजराने का, एक तहरीर का, एक कागद का, एक दस्तूरी का, एक सूद का और पाँच नकद, इस तरह दस रुपये हुए । हास्य-व्यंग्य का पुट मिलाते हुए किसान पाँच रुपये भी वापिस देते हुए महाजन को समझाता है : "नहीं सरकार, एक रुपया छोटी ठकुराइन का नजराना है, एक रुपया बड़ी ठकुराइन का । एक रुपया छोटी ठकुराइन के पान खाने को, एक बड़ी ठकुराइन के पान खाने को । बाकी बचा एक, वह आपकी क्रिया-करम के लिए ।" जहाँ ऐसा भीषण शोषण होता है, वहाँ किसानों की अस्तित्व रक्षा का सवाल मुख्य हो जाता है । प्रेमचन्द ने इस नष्ट होते हुए किसान की दृष्टि से इस समाज व्यवस्था को पुनर्गठित करने की वकालत की है ।

प्रेमचन्द-साहित्य की विषय-वस्तु तो भारतीय किसान का जीवन है, लेकिन उनके साहित्य का पाठक शिक्षित मध्यवर्ग है । प्रेमचन्द मध्यवर्ग को किसानों का पक्षधर बनाना चाहते हैं । उन्हें अपने गाँव की कहानी देहात से अनभिज्ञ पढ़े-लिखे पाठक को सुनानी है । इसलिए उनको एक तरफ तो यह ध्यान रखना पड़ता है कि पाठक के मानस पर किसान जीवन का नक्शा उतर आये—जो न इतना अपरिचित हो कि शिक्षित वर्ग उससे तादात्म्य ही न कर पाये और न इतना परिचित हो कि शहरी जीवन से अलग उसकी पहचान ही न बन पाये । इस कहानी को प्रेमचन्द इस तरह से

सुनाते हैं, जिससे पढ़ने वाला किसानों का पक्षधर हो जाये। इसके साथ ही प्रेमचन्द को अशिक्षित किसानों के भावों को भाषा में बाँधना है। अपढ़ जनता की बोली को पठनीय बनाना और उसके मूल भाव को बचाये रखना बहुत ही कठिन काम है। प्रेमचन्द इसमें पूरी तरह से सफल हुए हैं। उन्होंने किसान-समस्याओं का वर्णन इस दृष्टि से किया है जिससे स्वाधीनता आन्दोलन में मदद मिल सके।

प्रेमचन्द के 'प्रेमाश्रम' तक के साहित्य पर आश्रमवादी काल्पनिक समाधान ढूँढ़ने के आरोप लगाये गये हैं। वास्तव में, 1920 तक का सम्पूर्ण आधुनिक हिन्दी साहित्य देशोद्धार की भावना तक सीमित है। बुद्धिजीवियों और रचनाकारों की चिन्ता यह रहती थी कि कुछ ऐसा किया जाय, जिससे वर्तमान भारत को अधःपतन से बचाया जाय। इस कार्य के लिए अंग्रेजों की मदद ली जाए या नहीं, यह गौण सवाल है। जहाँ तक हो सके अंग्रेजों से टकराये बिना ही समकालीन अधःपतन से बचा जाए। मुख्य कार्य है 'देशोद्धार'। इसी उद्धार भावना से प्ररित होकर प्रेमचन्द ने 'सेवा-सदन' और 'प्रेमाश्रम' जैसे उपन्यासों की रचना की। यूँ सामाजिक समस्याओं का हल आदर्श आश्रमों में ढूंढ़ने की परम्परा इस देश में अतीत काल से चली आ रही है। प्रेमचन्द के समकालीन अन्य राष्ट्रीय बुद्धिजीवियों ने भी अनेक आश्रमों की स्थापना की थी। पाण्डिचेरी में 'अरविन्द आश्रम', रवीन्द्रनाथ टैगोर का 'शांति-निकेतन' और गांधी जी का 'साबरमती आश्रम' इस चेतना की अभिव्यक्ति है। इसके अलावा उस युग के धार्मिक और सामाजिक सुधार आन्दोलनों की प्रेरणाओं से भी अनेक आश्रम खुले। आर्य समाज वालों ने अनेक विधवा-आश्रम, शिक्षण-संस्थान आदि खोले। मिशनरियों और अन्य लोगों ने भी इस तरह के कार्य किये। प्रेमचन्द इस चेतना का प्रसार नवीन क्षेत्रों में कर रहे थे। उन्होंने किसानों की बदहाली, उसके कारण और समाधान की परिकल्पना प्रस्तुत की। अन्य सुधारवादी जहाँ सामाजिक समस्याओं तक ही सीमित रहे, वहाँ प्रेमचन्द ने आर्थिक समस्याओं से मुक्ति की परिकल्पना भी की। सम्भवतः यही कारण है कि वह आश्रमवादी चेतना से मुक्त हो पाये और आगे चलकर इन समस्याओं के राजनीतिक हल सुझाये।

प्रेमचन्द ने औपनिवेशिक भारत में जीवन व्यतीत कर रहे समाज के सभी वर्गों का चित्रण अपने साहित्य में किया है। फिर भी वह मुख्यतः भारतीय किसानों के पक्षधर रचनाकार हैं। उन्होंने गरीब किसानों की दृष्टि से न केवल किसानों की समस्याओं का चित्रण किया है, बल्कि सम्पूर्ण समाज की समस्याओं का चित्रण भी किया है।

उस समय सम्पूर्ण भारत में एक समान राज्य व्यवस्था नहीं थी। देश का कुछ भाग देशी राजाओं के अधीन था। शेष भाग 'ब्रिटिश भारत' कहलाता था। 'ब्रिटिश भारत' में भी दो तरह की भूमि व्यवस्था मौजूद थी। कुछ प्रान्तों में इस्मतरारी बंदोबस्त किया गया था और कुछ प्रान्तों में रैयतवारी भूमि व्यवस्था लागू की गयी थी। प्रेमचन्द की रचनाओं में मुख्यतः इस्मतरारी बन्दो-बस्त के अन्दर जीवन व्यतीत करने वाले किसानों का जीवन मिलता है। विशेष रूप से उन्होंने

रायबरेली, प्रतापगढ़, बनारस, लखनऊ, फैजाबाद, गोरखपुर के आसपास के किसानों को अपनी रचनाओं में उपस्थित किया है। उन्होंने रैयतवारी व्यवस्था के भीतर रह रहे किसानों का वर्णन अपने साहित्य में नहीं किया है। अंग्रेजों ने बंगाल व बिहार (आधुनिक) के कुछ हिस्सों में किसानों को नील की खेती करने के लिए बाध्य किया था, या कुछ स्थानों पर जूट, चाय आदि के अनिवार्य उत्पादन की व्यवस्था की थी। उन किसानों की पीड़ाओं का वर्णन प्रेमचन्द की रचनाओं में नहीं मिलता। इस तरह उन्होंने सम्पूर्ण भारत के किसानों के शोषण के सम्पूर्ण रूपों का वर्णन नहीं किया है। फिर भी प्रेमचन्द ने इन किसानों की क्षेत्रीय विशिष्टताओं का वर्णन नहीं किया है। उन्होंने इन किसानों का वर्णन इस रूप में किया है कि वे भारतीय किसानों के प्रतिनिधि बन सकें।

प्रेमचन्द गरीब किसानों के लेखक हैं। प्रेमचन्द दातादीन, मँगरू या सुक्खू चौधरी जैसे धनी किसानों के समर्थक नहीं हैं। उनका किसान वह है जिसके पास पाँच-छः बीघा जमीन है, न उतरने वाला ऋण है, न चुकाया जा सकने वाला लगान है, वह धार्मिक सामाजिक रूढ़ियों से जकड़ा हुआ है, निरक्षर है, देश-दुनिया की बड़ी-बड़ी बातें नहीं जानता। अस्तित्व-रक्षा के लिए लड़ाई लड़ता रहता है, असंगठित है। उसे किसानी के साथ-साथ मजूरी भी करनी पड़ती है। नैतिक वर्जनाओं के बावजूद वह छोटी-मोटी बेइमानियाँ करने के लिए मजबूर है। यह किसान खेत मजदूर बनने की प्रक्रिया में है। 'कफन' के घीसू और माधव तो मजदूर बन भी गये हैं। इनका शोषण सूदखोर से लेकर अंग्रेजी राज तक सभी करते हैं। प्रेमचन्द इस किसान की अस्तित्व रक्षा के लिए स्वाधीनता आन्दोलन में भाग लेते हैं। इसी के हित की दृष्टि से वर्तमान समाज व्यवस्था का पुनर्गठन करना चाहते हैं। ऐसा किसान 'गोदान' का होरी है। 'सवा सेर गेहूँ' का शंकर है, 'पूस की रात' का हल्कू है। इस किसान के पक्षधर होने के कारण ही वह सामंतवाद विरोधी हैं और इसी कारण साम्राज्यवाद विरोधी भी हैं। उनके जनतंत्र की धारणा में भी विशाल किसान जनता की हित-चिंता मुख्य है।

प्रेमचन्द जब भी गाँव जाते, तो अपने गाँव के किसानों से हिलमिल कर रहते थे। उनकी पत्नी ने अपने संस्मरणों में लिखा है, "आप गाँव में रहते तो अपने दरवाजे पर हमेशा झाड़ू लगाते। कभी-कभी मैं उन्हें रोकती। छोटे बच्चों को दरवाजे पर बिठाकर चार बजे शाम को उनके पास मिट्टी इकट्ठा कर देते, पत्तियाँ इकट्ठी कर देते, सिकटे इकट्ठा कर देते और लड़कों को खेलने के ढंग सिखाते। उसके बाद जब गाँव के काश्तकार इकट्ठा होते, तो उनसे बातें करते, झगड़ा निपटाते, बच्चों से खेलने के ढंग सिखाते। कोई नये कायदे-कानून बनते तो उन काश्तकारों को समझाते। उन सबों के साथ तो बिल्कुल काश्तकार हो जाते थे। उम्र की बड़ाई के लिहाज से जिसका जैसा सम्बन्ध होता, सदा वैसा आदर देते। चाहते थे कि गाँव एक किला बन जाय। उपन्यास को चित्रों की तरह सजीव कर देना चाहते थे। काश्तकारों की कमजोरी देखकर उनको बड़ा दुःख होता। काश्तकारों की स्त्रियों से भाभी, चाची, बहन, बेटी का जैसा सम्बन्ध होता सदा उसी तरह का

व्यवहार वे करते। उनमें बड़ों को वे सलाम करते थे। जो भाभी लगती थीं, अगर वे मजाक कर देतीं, तो हँस देते और बुरा न मानते। गाँव में बहुत दूर तक शौच को निकल जाते थे। वहाँ आम के दिनों में लोटे में आम भी लेते आते। मूली का दिन होता तो मूली भी तोड़कर लोटे में लेते आते।"

प्रेमचन्द ने किसानों के प्रति आत्मीय क्रोध भी जगह-जगह व्यक्त किया है। जैनेन्द्र कुमार ने एक घटना का जिक्र किया है। एक बार प्रेमचन्द, जैनेन्द्र और शिवरानी देवी बनारस से लमही के लिए रवाना हुए। सारनाथ की सड़क पर सामान रख दिया और प्रेमचन्द किसी मजदूर को बुलाने के लिए गये। गाँव में मजदूर तो थे नहीं, अतः अपने 'प्रिय' किसानों के पास गये। लेकिन किसानों का गौरव मजदूरी की अनुमति नहीं देता था। निराश होकर सभी वापिस बनारस लौट आये। प्रेमचन्द बोले : "देखो जैनेन्द्र, धेली-रुपया हाथ लग ही जाता। गाँव होगा एक मील या बहुत-से-बहुत डेड़ मील पर जाहिलों को समझ हो तब न।"

5

साम्प्रदायिकता विरोधी संघर्ष

जिस समय असहयोग आन्दोलन जोर शोर से चल रहा था और लोग भारत की आजादी के स्वप्न देखने लग गये थे, उस समय प्रेमचन्द ने "वर्तमान आन्दोलन के रास्ते में रुकावटें" (जमाना, दिसम्बर 1921) शीर्षक टिप्पणी लिखी। इन रुकावटों की चर्चा करते हुए प्रेमचन्द ने चेतावनी देते हुए लिखा : "इस मसले से कहीं ज्यादा पेचीदा, नाजुक और अहम मसला हिन्दू-मुस्लिम एकता है।··· हिन्दू-मुस्लिम एकता का मसला निहायत नाजुक है और अगर पूरी एहतियात और धीरज और जब्त और खादारी से काम न लिया गया तो यह स्वराज्य के आन्दोलन के रास्ते में सबसे बड़ी रुकावट साबित होगा।" प्रेमचन्द की इस चेतावनी के कुछ दिनों बाद असहयोग आन्दोलन बन्द कर दिया गया। इसके बाद देश में साम्प्रदायिक संघर्षों की लहर चली, जिसमें लाखों हिन्दू और मुसलमान मारे गये। और यह साम्प्रदायिक संघर्ष कई वर्षों तक चलते रहे। कभी कहीं दंगे भड़क उठते और कभी कहीं। कहीं हिन्दू अधिक मारे जाते और कहीं मुसलमान। धार्मिक उन्माद वातावरण में छा गया। पंडित जवाहर लाल नेहरू ने इसका कारण असहयोग आन्दोलन का अचानक स्थगन बताया। उन्होंने लिखा : "यह भी सम्भव है कि इतने बड़े आन्दोलन को अचानक रोक देने से देश में एक के बाद एक दुखद घटनाओं का क्रम शुरू हुआ। राजनीतिक संघर्ष में छिटपुट और निरर्थक हिंसा की प्रवृत्ति तो रुक गई किन्तु इस दबी हुई हिंसा को कोई रास्ता तो ढूँढ़ना ही था और बाद के वर्षों में शायद इसने ही साम्प्रदायिक दंगों को बढ़ावा दिया।"

असहयोग आन्दोलन की समाप्ति के बाद भारत में राजनीतिक घटनाओं में तीव्र गति से परिवर्तन होने लगे। अनेक नये राजनीतिक और गैर-राजनीतिक संगठन इसी काल में अस्तित्व में आये। एक तरफ तो भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना (1925 ई०) हुई, दूसरी तरफ राष्ट्रीय

स्वयं सेवक संघ जैसी संस्थाएँ अस्तित्व में आयीं। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में से पंडित मोतीलाल नेहरू और चित्तरंजनदास ने स्वराज्य पार्टी (1923 ई०) बनायी और वैधानिक संघर्ष का रास्ता अपनाया। मुस्लिम लीग ने कुर्बानी की योजना तैयार की, इसके बदले हिन्दुओं ने 'शुद्धि आन्दोलन' चलाया। जगह-जगह पृथक हिन्दू संगठनों की आवश्यकता पर बल दिया जाने लगा। प्रेमचन्द से पूछा गया कि आप किस पार्टी के साथ हैं। उन्होंने 17 फरवरी 1923 को पत्र में लिखा : "मैं किसी पार्टी में भी नहीं हूँ। इसलिए कि दोनों में से कोई पार्टी कुछ अमली काम नहीं कर रही है। मैं तो उस आने वाली पार्टी का मेम्बर हूँ जो कोतहुन्नास की सियासी तालीम को अपना दस्तूर-उल-अमल बनाये।"

प्रेमचन्द ने इस साम्प्रदायिकता से लगातार वैचारिक संघर्ष चलाया। इसके लिए उन्होंने साम्प्रदायिकता के कारणों का विवेचन किया। उन्होंने साम्प्रदायिकता के स्वरूप पर विचार किया और साथ ही इस साम्प्रदायिकता को नष्ट करने के उपाय भी सुझाये। प्रेमचन्द ने इस सवाल पर समकालीन राष्ट्रीय नेताओं की भूमिका की आलोचना की है। प्रेमचन्द मानते हैं कि इस साम्प्रदायिकता की जड़ें इतिहास में हैं। "मुसलमान विजेता थे, हिन्दू विजित। मुसलमानों की तरफ से हिन्दुओं पर अक्सर ज्यादतियाँ हुईं और यद्यपि हिन्दुओं ने मौका हाथ आ जाने पर उनका जवाब देने में कोई कसर नहीं रखी, लेकिन कुल मिलाकर कहना ही होगा कि मुसलमान बादशाहों ने सख्त से सख्त जुल्म किये।··· इतिहास से उत्तराधिकार में मिली हुईं अदावतें मुश्किल से मरती हैं, लेकिन मरती हैं, अमर नहीं होतीं। दुनिया के इतिहास में इसकी मिसालें न मिलती हों, ऐसी बात नहीं है और अगर न भी मिलती हों तो कोई वजह नहीं कि हम इसे तावीज की तरह अपने गले में लटकाये रहें।" इसके साथ-साथ इतिहास के वैज्ञानिक ज्ञान का अभाव भी इन झगड़ों का कारण है। हमें ऐसा इतिहास पढ़ाया जाता है जिससे साम्प्रदायिकता की भावना भड़के। इतिहास के उन उज्जवल पक्षों से लोग परिचित नहीं हैं, जिनसे एकता की भावना को बल मिले। हिन्दू जनता मुस्लिम इतिहास से परिचित नहीं है और मुस्लिम जनता हिन्दुओं के इतिहास से परिचित नहीं है। प्रेमचन्द ने इसके लिए मुस्लिम इतिहास पर कई कहानियाँ लिखीं और साथ ही 'कर्बला' नामक नाटक कर्बला के संघर्ष पर लिखा। इसकी भूमिका में प्रेमचन्द ने लिखा : "कितने खेद और लज्जा की बात है कि कई शताब्दियों से मुसलमानों के साथ रहने पर भी अभी तक हम लोग प्रायः उनके इतिहास से अनभिज्ञ हैं। हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य का एक कारण यह भी है कि हम हिन्दुओं को मुस्लिम महापुरुषों के सच्चरित्रों का ज्ञान नहीं। जहाँ किसी मुसलमान बादशाह का जिक्र आया कि हमारे सामने औरंगजेब की तस्वीर खिंच गयी। लेकिन अच्छे और बुरे चरित्र सभी समाजों में सदैव होते आये हैं और होते रहेंगे।"

उसी समय ख्वाजा हसन निजामी ने कृष्ण का जीवन चरित्र लिखा, हिन्दू आलोचक ने इस बात के लिए उनकी तारीफ की। प्रेमचन्द ने कर्बला पर नाटक लिखा और उसमें उन्होंने इतिहास का आधार लेकर हिन्दू पात्रों को भी शामिल किया। संकीर्ण हिन्दुओं और मुसलमानों—दोनों ने इस

की आलोचना की। संदेह व्यक्त किया गया कि इससे मुसलमानों की धार्मिक भावनाओं को ठेस लगेगी। प्रेमचन्द ने नाटक लिखते समय इन बातों का ध्यान रखा था। प्रेमचन्द को इस आलोचना से हार्दिक ठेस लगी। उन्होंने निगम को 22 जुलाई 1924 को पत्र लिखा : "आप फरमाते हैं कि शिया हज़रात यह पसन्द नहीं कर सकते कि उनके किसी मज़हबी पेशवा का ड्रामा तैयार किया जाय। शिया हज़रात अगर मज़हबी पेशवा की मसनवी पढ़ते हैं, अफसाने पढ़ते हैं, मर्सिये सुनते और पढ़ते हैं तो उन्हें ड्रामा से क्यों एतराज हो। क्या इसलिए कि एक हिन्दू ने लिखा है।"

एक बार प्रेमचन्द ने 'आज' में एक लेख लिखा। काशी के हिन्दू इससे नाराज हुए और प्रेमचन्द को धमकाने के लिए उनके घर गये। उनमें से अधिकांश कांग्रेसी सज्जन थे। प्रेमचन्द ने शिवरानी देवी को बताया : "लेखक को पब्लिक और गवर्नमेण्ट अपना गुलाम समझती है। आखिर लेखक भी कोई चीज है। वह सभी की मर्जी के मुताबिक लिखे तो लेखक कैसा ? लेखक का भी अस्तित्व है। गवर्नमेण्ट जेल में डालती है, पब्लिक मारने की धमकी देती है, इससे लेखक डर जाय और लिखना बन्द कर दे ?" इसलिए प्रेमचन्द ने लेखकों को सावधान किया कि वे जनरुचि के प्रवाह में न बहकर नई जनरुचि का निर्माण करें। "लेखक को कभी यह न भूलना चाहिए कि वह जनता का पथगामी नहीं बल्कि पथदर्शक है। वह हँसाता है, मनोरंजन करता है, चुटकियाँ लेता है, पर ये उसके लिए गौण बातें हैं, उसका मुख्य उद्देश्य और ही कुछ है।"

साम्प्रदायिक संघर्षों का नेतृत्व वे लोग कर रहे थे, जिनकी मान-प्रतिष्ठा को असहयोग आन्दोलन ने मिट्टी में मिला दिया। इसमें अधिकतर जमींदार, पंडित, मौलवी, सरकारी पेंशनर, राजे-महाराजे शामिल थे। प्रेमचन्द ने लिखा है कि "बात यह है कि हिन्दू सभा और मुसलिम लीग दोनों में ऐसे लोग भरे हुए हैं, जो या तो सरकारी नौकर या पेंशनर हैं। उनका मस्तिष्क नौकरियों और जगहों के सिवा कुछ सोच ही नहीं सकता। किसान और मजदूर के लिए उनके पास कुछ नहीं है, कोई निर्माण कारक स्कीम नहीं है, कोई क्रियात्मक उद्धार की नीति नहीं है।" ऐसे लोगों से देश को नुकसान ही होने वाला है, "जिनके लिए एक मसलमान सब इंसपेक्टर या कुर्क अमीन की नियुक्ति चीन के इन्कलाब या तुर्की की फतेह से ज्यादा बड़ी घटना है।"

प्रेमचन्द ने राष्ट्रीय नेताओं की भी आलोचना की है, जिन्होंने साहसपूर्वक इस मनोवृत्ति से सफल संघर्ष नहीं चलाया। 'मनुष्यता का अकाल' (1924) शीर्षक टिप्पणी में उन्होंने लिखा : "मगर अफ़सोस के साथ कहना पड़ता है कि कांग्रेस ने भी समग्र रूप से इन आन्दोलनों से अलग-अलग रहने के बावजूद व्यक्तिगत रूप से उसमें शामिल होने में कुछ भी उठा नहीं रखा। इतना ही नहीं, एक भी जिम्मेदार कांग्रेस नेता ने ऐलान करके इन आन्दोलनों के खिलाफ आवाज बुलन्द करने का साहस नहीं किया। पंडित मोतीलाल नेहरू, पं० जवाहरलाल नेहरू, लाला भगवानदास, लाला श्री प्रकाश इन आदमियों में, जिनसे ज्यादा नैतिक साहस से काम लेने की आशा की जा सकती थी, मगर इन

सभी लोगों ने एक रोज अपने विरोध और अपनी आशंका को व्यक्त करके दूसरे रोज उसका खंडन कर दिया और डंके की चोट पर यह कहा कि शुद्धि और संगठन के बारे में हमने जो ख्याल जाहिर किया था वह गलत फहमियों पर आधारित था।"

उस युग के आम राजनीतिक नेताओं की तो बात ही क्या। उनकी विचार-प्रणाली का उद्घाटन करते हुए प्रेमचन्द ने 'माधुरी' में 'नेता और जनता' शीर्षक से संपादकीय लिखा। उन्होंने कहा : "अब भी हमारे कितने ही लीडर ऐसे हैं जो कई महत्वपूर्ण सामाजिक प्रश्नों पर अपनी जबान खोलने का साहस नहीं रखते, क्योंकि वे वास्तव में लीडर नहीं, बल्कि जनता की रुचि के अनुगामी हैं। उनका अस्तित्व जनता की अंध भक्ति, दुर्बलता और मूर्खता पर निर्भर है, और वे कोई ऐसी बात नहीं कह सकते जिससे जनता उन्हें अपने से भिन्न समझने लगे।···बदकिस्मती से हमारे अधिकांश नेताओं में यह दुर्बलता बद्धमूल हो गई है। ऐसे नेताओं से किसी कठिन अवसर पर भलाई की आशा नहीं की जा सकती।"

प्रेमचन्द ने साम्प्रदायिक व्यक्तियों द्वारा प्रचारित सभी धारणाओं को खंडित किया। प्रेमचन्द ने लिखा : "साम्प्रदायिकता सदैव संस्कृति की दुहाई दिया करती है। उसे अपने असली रूप में निकलते शायद लज्जा आती है, इसलिए वह गधे की भाँति जो सिंह की खाल ओढ़कर जंगल के जानवरों पर रौब जमाता फिरता था, संस्कृति की खाल ओढ़कर आती है।" इसी समय आचार्य चतुरसेन शास्त्री ने 'इसलाम का विष वृक्ष' नामक किताब लिखी, प्रेमचन्द ने इस पुस्तक की निंदा की और सभी लेखकों से इसका विरोध करने के लिए कहा।

'इंडियन सोशल रिफॉर्मर' नामक पत्र ने लिखा कि साम्प्रदायिकता अच्छी भी होती है और बुरी भी। जनवरी 1934 के 'हंस' में प्रेमचन्द ने प्रत्युत्तर लिखा : "अगर साम्प्रदायिकता अच्छी हो सकती है, तो पराधीनता भी अच्छी हो सकती है, मक्कारी भी अच्छी हो सकती है, झूठ भी अच्छा हो सकता है, क्योंकि पराधीनता में जिम्मेदारी से बचत होती है, मक्कारी से अपना उल्लू सीधा किया जाता है और झूठ से दुनिया को ठगा जाता है। हम तो साम्प्रदायिकता को समाज का कोढ़ समझते हैं, जो हर एक संस्था में दलबन्दी कराती है और अपना छोटा सा दायरा बना सभी को उससे बाहर निकाल देती है।"

प्रेमचन्द ने दैनिक जीवन में भी इस मनोवृत्ति से संघर्ष किया। इस तरह के कुछ संस्मरण मिलते हैं। प्रेमचन्द ने बातचीत के दौरान शिवरानी देवी से कहा—"इसका दोषी एक ही वर्ग नहीं है। अगर मुसलमान कुरबानी करता है, एक बूढ़ी-टेढ़ी गाय को लेकर, जिस पर कि दोनों कौमों में झगड़ा होता है, तो जब अंग्रेजों के यहाँ सैकड़ों गायें और बछड़े मारे जाते हैं तब क्यों नहीं हिन्दुओं के खून में गरमी आती ? यह कुरबानी में गाय के लिए झगड़ा नहीं होता है, यह दोनों के अन्दर एक तरह की कुरेदन रहती है, उसी में पड़कर झगड़ा होता है। कौन-सा देवी का मन्दिर है, जहाँ बकरों की कुरबानी न होती हो ? क्या बकरा जीव नहीं है ? फिर क्यों बकरे की कुरबानी

की जाती है ? बकरे का गोश्त आप भी शौक से खाते हैं। सबसे दया की मूर्ति हिन्दू ही हैं, यह आप कैसे कह सकती हैं ? स्त्रियों पर सबसे ज्यादा ज्यादती हिन्दू ही करते हैं। जरा-सी भूल हो गई, उसको घर से निकाल बाहर किया। हिन्दू अपने पैर में आप कुल्हाड़ी मारते हैं। उस पर कहीं सुनते हैं कि किसी हिन्दू को मुसलमान बना लिया गया, तो बड़ा शोरगुल मचाते हैं। और जब औरत को घर से निकाल देते हैं, तब वह यह नहीं सोचते कि आखिर यह जाएगी कहाँ ? आखिर वह मुसलमान ही होगी, तब उसको क्यों घर में नहीं रहने देते ?"

एक बार प्रेमचन्द कानपुर में 'प्रताप' आफिस में गये। वहाँ उनसे एक साम्प्रदायिक हिन्दू से बहस हो गयी। उसने कहा कि हमें ईंट का जवाब पत्थर से देना चाहिए।

प्रेमचन्द सुनकर मुस्कराए और बोले—"अरे भाई, इस समय मुसलमानों का मानस-रोग उन्मुक्त है। वे जैसे सन्निपात में हैं। तब क्या तुम भी पागलपन करोगे ? और सो भी जानबूझ-कर ? नहीं, हमें अपने को इस प्रकार राग द्वेष के वशीभूत नहीं होने देना चाहिए। पागलों के साथ हम भी यदि पागल बन जाएँ तो कैसे काम चलेगा।"

उपसम्पादक महाशय ने बल खाया और बोला—"क्यों साहब अगर पागल हमारे सामने पेशाब करने लगे, तो हम क्या करें ?"

प्रेमचन्द बोले—"भाई तनिक दूर हटकर खड़े हो जाओ।"

उपसम्पादक—"और अगर वहाँ भी आकर वह यही हरकत करे तो ?"

प्रेमचन्द—"अमाँ, यह कैसे हो सकता है ? वह भलामानस कोई परवाल थोड़े ही बाँधे है जो यहाँ-वहाँ सब जगह मूतता ही जाएगा।"

यह बात सुनकर सब लोग हँसने लगे।

प्रेमचन्द ने साम्प्रदायिकता विरोधी अनेक कहानियाँ लिखीं। 'हिंसा परमोधर्मः' कहानी का यह शीर्षक देकर प्रेमचन्द ने इस प्रवृत्ति को उचित नाम दे दिया है। 'क्षमा' और 'नबी का नीति निर्वाह' में प्रेमचन्द ने इस्लाम के इतिहास के उज्जवल पक्षों का बयान किया है। 'मंत्र' में शुद्धि आन्दोलन की निरर्थकता दिखायी गयी है। 'मन्दिर और मसजिद' में प्रेमचन्द ने चौधरी इतरत अली चौधरी जैसे सहृदय मुसलिम चरित्र को उपस्थित किया है। इसके अलावा 'कायाकल्प' उपन्यास में साम्प्रदायिक झगड़ों की भर्त्सना की गयी है। प्रेमचन्द के रचनात्मक साहित्य में साम्प्र-दायिक मनोवृत्ति के विरुद्ध संघर्ष मिलता है। उनकी रचनाओं में इस समस्या के प्रति सतर्कता बराबर बनी रहती है।

प्रेमचन्द मानते हैं कि इन झगड़ों के मूल में हमारी पराधीनता है, अतः स्वराज्य प्राप्त करके ही इनसे पूरी तरह से बचा जा सकता है। उन्होंने बार-बार उस तीसरी शक्ति की उपस्थिति का जिक्र किया है, जिसका हित इन दोनों सम्प्रदायों के झगड़े में है। इस तरह साम्प्रदायिक मनोवृत्ति राष्ट्र विरोधी है। "देश में स्वराज्य होता तो इस किस्म के झगड़े अव्वल तो होने ही न पाते, अधिकारी पहले

ही से रोकथाम करते और अगर हो भी जाते तो उन्हें तत्काल समाप्त कर दिया जाता।" स्पष्ट है कि प्रेमचन्द स्वराज्य को सब बुराइयों के निदान का साधन मानते हैं। साम्प्रदायिकता विरोधी संघर्ष वास्तव में स्वाधीनता प्राप्ति के संघर्ष का अंग है। उसे इसी रूप में प्रेमचन्द देखते हैं। कानपुर के दंगे पर टिप्पणी करते हुए प्रेमचन्द ने मार्च 1931 के 'हंस' में लिखा : "बुद्धि यह मानने को तैयार नहीं होती कि जो सरकार राजनीतिक आन्दोलन का दमन करने में इतनी तत्परता से काम ले सकती है, इतनी आसानी से गोलियाँ चलवा सकती है, वह इस अवसर पर इतनी अशक्त हो गयी कि उसकी उपस्थिति में रक्त की नदी बह गयी और वह कुछ न कर सकी। क्या खुफिया पुलिस केवल राजनीतिक प्रगति की जाँच करने के लिए ही है? उसे जनता में आन्दोलित होने वाली भावनाओं का पहले से क्यों ज्ञान नहीं होता? निश्चय ही इन दंगों से सरकार को फ़ायदा होता है और जनता को नुकसान।"

6
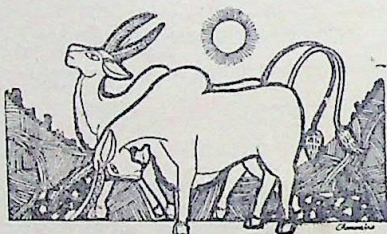
अछूतों की समस्या

प्रेमचन्द का साहित्य समाज के उपेक्षित और उत्पीड़ित वर्ग की जोरदार वकालत है। भारतीय किसानों के समान ही प्रेमचन्द ने अछूतों की ओर भी ध्यान दिया है। लेकिन अछूतों की समस्या के 'उद्धारवादी' हल से वह संतुष्ट नहीं थे। उन्होंने इस समस्या को मानवीय रूप में उठाया। राजनीतिक आकाश में जब अछूतोद्धार का सवाल प्रमुख रूप से उठा, उससे बहुत पहले से ही प्रेम-चन्द ने अछूतों को अपने साहित्य में स्थान दिया। यह समस्या सबसे पहले प्रेमचन्द की कहानी 'सिर्फ़ एक आवाज़' (1913 ई०) में उठाई गई है। गंगा के किनारे पढ़े लिखे लोगों की जमात में एक वक्ता भाषण दे रहे हैं। उसने ललकार कर कहा कि हमें प्रतिज्ञा करनी चाहिए कि "अछूतों के साथ भाई चारे का सलूक करेंगे।" श्रोताओं ने इस पर चुप्पी साध ली। "वहाँ कौम पर जान देने वालों की कमी न थी, स्टेजों पर कौमी तमाशे खेलने वाले कालेजों के होनहार नौजवान, कौम के नाम पर मिटने वाले पत्रकार, कौमी संस्थाओं के मेम्बर, सेक्रेटरी और प्रेसिडेंट, राम और कृष्ण के सामने सिर झुकाने वाले सेठ और साहूकार, कौमी कालिजों के ऊँचे हौसलों वाले प्रोफेसर और अखबारों में कौमी तरक्कियों की खबरें पढ़कर खुश होने वाले दफ्तरों के कर्मचारी हजारों की तादाद में मौजूद थे। आँखों पर सुनहरी ऐनकें लगाये, मोटे मोटे वकीलों की एक पूरी फौज जमा थी मगर संन्यासी के उस गर्म भाषण से एक दिल भी न पिघला क्योंकि वह पत्थर के दिल थे जिनमें दर्द और घुलावट न थी, जिनमें सदिच्छा थी मगर कार्यशक्ति न थी, जिनमें बच्चों की सी इच्छा थी मगर मर्दों का सा इरादा न था।" फिर पुराने किस्म के देहाती आदमी ठाकुर दर्शन सिंह ने यह प्रतिज्ञा की। यहाँ सवाल उठता है कि इसमें समस्या क्या है। 'दोनों तरफ से' (1911) के नायक पंडित श्याम स्वरूप अछूतों के उद्धार के लिए लेख ही नहीं लिखते थे, बल्कि उनके बीच उठते-बैठते

भी थे और उनकी परेशानियों के भागीदार होते थे । फलतः लोगों ने टीका-टिप्पणियाँ करनी शुरू कर दीं, बिरादरी-बाहर कर दिये गये, नौकरों ने काम-काज करना बन्द कर दिया । जिस समाज में एक समुदाय के प्रति ऐसी भावनाएँ भरी हुई हों, उसका सुधार आसान नहीं है ।

उस समय समाज में कुछ लोग 'अछूतोद्धार' में भी लगे । विशेष रूप से 'शुद्धि आन्दोलन' के समर्थक कार्यकर्ताओं ने यह बीड़ा उठाया । प्रेमचन्द को इसमें दंभ की बू आई । 'मंत्र' (1925) के पंडित लीलाधर चौबे इसी उद्धार की आकांक्षा में मद्रास प्रान्त में गये । उनसे एक बूढ़ा अछूत कहता है : "हम कितने ही ऐसे कुलीन ब्राह्मणों को जानते हैं, जो रात-दिन नशे में डूबे रहते हैं, मांस के बिना कौर नहीं उठाते, और कितने ही ऐसे हैं, जो एक अक्षर भी नहीं पढ़े हैं, पर आपको उनके साथ भोजन करते देखता हूँ । उनसे विवाह-सम्बन्ध करने में आपको कदाचित इनकार न होगा । जब आप खुद अज्ञान में पड़े हुए हैं, तो हमारा उद्धार कैसे कर सकते हैं ? आपका हृदय अभी तक अभिमान से भरा हुआ है । जाइए, अभी कुछ दिन और अपनी आत्मा का सुधार कीजिए । हमारा उद्धार आपके किये न होगा ।" प्रेमचन्द ने इस कहानी में बताया है कि अछूतों के साथ समानता का, भाई चारे का बर्ताव और उनके लिए सेवा भाव ही वह मंत्र है जिससे अछूतपन मिट सकता है ।

दरअसल इस भावना का आधार भारत की जाति-व्यवस्था में है। अत: जब तक इस जाति-व्यवस्था पर चोट नहीं की जाती, तब तक 'अछूतों' की समस्याओं का उचित समाधान नहीं हो सकता । सदियों से प्रचलित इस जाति-व्यवस्था ने हमारे संस्कारों को भी बिगाड़ दिया है । अत: सरल और तीव्र समाधान संभव नहीं है । इसके लिए वैचारिक, सांस्कृतिक और सामाजिक संघर्ष की आवश्यकता है । अन्तर्जातीय विवाह इसका समाधान हो सकता है । लेकिन जब तक संपूर्ण समाज में यह घृणित मानसिकता व्याप्त है, तब तक ऐसे अन्तर्जातीय विवाहों का अंत दुखद ही होगा । नवयुवकों का आदर्श और उदारता समाज के व्यंग्य-बाणों से पराजित हो जायेगी ।

कुछ सामाजिक कार्यकर्ताओं ने अछूतों के लिए मंदिर प्रवेश का आन्दोलन चलाया । प्रेमचन्द ने इस आन्दोलन में निहित जनतांत्रिक भावना का सम्मान किया और जो लोग इस आन्दोलन का विरोध कर रहे थे उनकी निंदा की । लेकिन इसको प्रेमचन्द इस समस्या का स्थायी हल नहीं मान रहे थे । उन्होंने 26 दिसम्बर 1932 के 'जागरण' में लिखा है, "हरिजनों की समस्या केवल मंदिर प्रवेश से हल होने वाली नहीं है । उस समस्या की आर्थिक बाधाएँ धार्मिक बाधाओं से कहीं कठोर हैं ।···यदि हम अपने हरिजन भाइयों को उठाना चाहते हैं तो हमें ऐसे साधन पैदा करने होंगे जो उन्हें उठने में मदद दें । विद्यालयों में उनके लिए वजीफे करने चाहिए, नौकरियाँ देने में उनके साथ थोड़ी-सी रियायत करनी चाहिए ।" वैसे भी प्रेमचन्द मंदिर और पंडे-पुजारियों को भ्रष्टाचार का उद्‌गम स्थान मानते हैं । अपने साहित्य में उन्होंने मंदिरों के भ्रष्टाचार का खुलकर वर्णन किया है । उनके पहले उपन्यास 'असरारे मआविद उर्फ देव स्थान रहस्य' से लगाकर

'कर्मभूमि' तक में मंदिर का चरित्र समान है। 'मंदिर' कहानी की दुखिया चमारिन इसकी साक्षी है।

प्रेमचन्द ने पेटू पंडितों का परिहासमय चित्र उपस्थित किया है। ये लोग होते तो मूर्ख हैं, लेकिन विद्वान समझे जाते हैं। होते हैं स्वार्थी, लेकिन ईमानदार माने जाते हैं। प्रेमचन्द ने ऐसे पंडितों का नामकरण अपनी कहानियों में 'मोटेराम शास्त्री' कर दिया है। यह चरित्र उनकी अनेक कहानियों में आता है। ये लोग जनता की धार्मिक भावना का शोषण करते हैं। कुछ पंडित अत्याचारी भी होते हैं। 'सवा सेर गेहूँ' के विप्रजी, 'सद्गति' के पंडित घासीराम, 'गोदान' के दातादीन आदि ऐसे ही चरित्र हैं। 'सद्गति' का दुखी चमार पंडित घासीराम के पास साइत पूछने के लिए जाता है। जाते समय वह बनिये के यहाँ से उचित दक्षिणा लेता जाता है और साथ में बेगार के रूप में घास का गट्ठा भी लेता जाता है। पंडित जी उसे डाँट फटकार कर चलने के लिए राजी हो जाते हैं। परन्तु उससे "थोड़ी-सी" बेगार करवाते हैं। भूखा-प्यासा दुखी चमार बेगार की लकड़ी चीरते-चीरते मर जाता है। चमार असहयोग करते हैं, कोई भी दुखी की लाश को उठाने नहीं आता। अब पंडित जी परेशान होने लगते हैं। दूसरे दिन सुबह होने से पहले वह स्वयं दुखी की लाश को ढोकर गाँव के बाहर फेंक आते हैं और वापिस आकर गंगा-जल से नहाते हैं। अछूतों को गाँव के सामूहिक कुँए से पानी भरने की आजादी नहीं है। 'ठाकुर का कुँआ' में गंगी चोरी से पानी भरने जाती है लेकिन पानी भर नहीं पाती है और उसका बीमार पति गंदा पानी पीने के लिए बाध्य है। गंगी सवर्णों के बारे में सोचती है : "···चोरी ये करें, जाल फरेब ये करें, झूठे मुकद्दमे ये करें। अभी इस ठाकुर ने तो उस दिन बेचारे गड़रिए की एक भेड़ चुरा ली थी और बाद को मारकर खा गया। इन्हीं पंडित के घर में तो बारहों मास जुआ होता है। यही साहूजी तो घी में तेल मिलाकर बेचते हैं। काम करा लेते हैं, मजूरी देते नानी मरती है। किस-किस बात में हैं हम से ऊँचे ?" प्रेमचन्द ने दिखाया है कि बेगार से लगाकर हर तरह से समाज में इनका शोषण हो रहा है।

प्रेमचन्द ने एक तरफ तो सवर्णों की अमानवीय प्रवृत्तियों का मखौल उड़ाया है और दूसरी तरफ अवर्णों की मानवीय भावनाओं को आदर दिया है। प्रेमचन्द इस समस्या को सिर्फ समाज सुधार आन्दोलन तक सीमित नहीं रखते, बल्कि राष्ट्रीय आन्दोलन के परिप्रेक्ष्य में देखते हैं। 'क्या हम वास्तव में राष्ट्रवादी हैं' शीर्षक टिप्पणी में प्रेमचन्द ने लिखा : "निर्मल की शिकायत है कि हमने अपनी तीन-चौथाई कहानियों में ब्राह्मणों को काले रंगों में चित्रित करके अपनी संकीर्णता का परिचय दिया है, जो हमारी रचनाओं पर अमिट कलंक है। हम कहते हैं कि अगर हममें इतनी शक्ति होती, तो हम अपना सारा जीवन हिन्दू-जाति को पुरोहित, पुजारियों, पंडों और धर्मोपजीवी कीटाणुओं से मुक्त कराने में अर्पण कर देते। हिन्दू-जाति का सबसे घृणित कोढ़, सबसे लज्जाजनक कलंक यही टकेपंथी दल है, जो एक विशाल जोंक की भाँति उसका खून चूस रहा है, और हमारी

राष्ट्रीयता के मार्ग में यही सबसे बड़ी बाधा है।"

अपनी रचनाओं के आदर्श का जिक्र करते हुए प्रेमचन्द ने लिखा : "हमारा आदर्श सदैव से यह रहा है कि जहाँ धूर्तता और पाखंड और सबलों द्वारा निर्बलों पर अत्याचार देखो, उसको समाज के सामने रखो, चाहे हिन्दू हो, पंडित हो, बाबू हो, मुसलमान हो, या कोई हो। इसलिए हमारी कहानियों में आपको पदाधिकारी, महाजन, वकील और पुजारी गरीबों का खून चूसते हुए मिलेंगे, और गरीब किसान, मजदूर, अछूत और दरिद्र उनके आघात सहकर भी अपने धर्म और मनुष्यता को हाथ से न जाने देंगे। क्योंकि हमने उन्हीं में सबसे ज्यादा सच्चाई और सेवा भाव पाया है।···हमारा स्वराज्य केवल विदेशी जुए से अपने को मुक्त करना नहीं है, बल्कि इस सामाजिक जुए से भी, इस पाखंडी जुए से भी, जो विदेशी शासन से कहीं घातक है···।" इस तरह प्रेमचन्द ने अछूतों की समस्या को देश की आजादी की लड़ाई से जोड़कर देखा है।

7
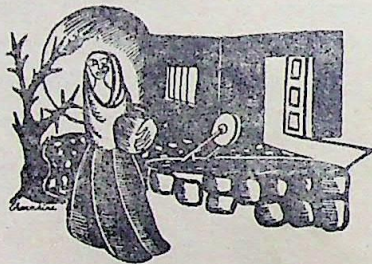
नारी मुक्ति का सवाल

प्रेमचन्द उन बुद्धिजीवियों में से नहीं थे जो तत्कालीन जागरण को सिर्फ सामाजिक जागरण तक सीमित रखना चाहते थे। ऐसे बुद्धिजीवियों के लिए भारत की सामाजिक परम्पराओं में सुधार करके उसे उन्नति के शिखर पर पहुँचाया जा सकता है। इस कार्य के लिए अंग्रेजी सरकार की सहायता लेना भी ये लोग बुरा नहीं समझते थे। कुछ दिनों तक प्रेमचन्द में भी यह भावधारा रही है। 'प्रेमा' उपन्यास में अमृतराय के विवाह में अंग्रेज अधिकारी उसकी मदद करता है। इस विचार-प्रणाली के अनुसार ज़न-जागरण से सामाजिक सुधार हो तो ज्यादा अच्छा है, लेकिन अंग्रेजों की मदद भी अवांछनीय नहीं है। इन बुद्धिजीवियों ने एक-एक करके सती प्रथा, बाल विवाह, बहु-विवाह, अनमेल विवाह, पर्दा प्रथा जैसी प्रथाओं का विरोध किया और विधवा विवाह के समर्थन में आन्दोलन चलाये। ऐसे लोगों ने समाज में नारी की पीड़ा को पहली बार गम्भीरता से रेखांकित किया। प्रेमचन्द ने इन सवालों को सामाजिक सवाल के रूप में न उठाकर राष्ट्रीय सवाल के रूप में उठाया है। उनका मानना है कि जब तक नारी पुरुष के अत्याचारों से मुक्त नहीं हो जाती तब तक हम स्वराज्य प्राप्त नहीं कर सकते। प्रेमचन्द ने अपनी पत्नी को बताया : "हिन्दू धर्म सबसे ज्यादा स्त्रियों ही को चौपट कर रहा है। जरा सी गलती स्त्रियों से हुई, उन्हें हिन्दू-समाज ने वहिष्कृत किया। सबसे ज्यादा हिन्दू स्त्रियाँ चकलेखाने में हैं। सबसे ज्यादा हिन्दू स्त्रियाँ मुसलमान होती हैं।...पहली बार जब हिन्दुओं के मौजूदा धर्म की नींव पड़ी तब पुरुष कर्ता-धर्ता थे। उन्होंने अपने लिए सारी सुविधाएँ रख लीं, हिन्दू स्त्रियों को छोटे-से दायरे के अन्दर बन्द कर दिया, फिर वह कैसे उदार विचार का होता।"

प्रेमचन्द के साहित्य की शुरुआत नारियों के उत्पीड़न के विरोध से होती है। उनके प्रथम उपलब्ध उपन्यास 'असरारे मआबिद उर्फ देव स्थान रहस्य' में मन्दिर में स्त्रियों को मूर्ख बनाने और उन्हें ठगने पर व्यंग्य किया गया है। 'प्रेमा' में विधवा विवाह की समस्या है। 'सेवासदन' उपन्यास में वेश्याओं की समस्याओं का चित्रण है। किस तरह सुमन वेश्या बनने के लिए मजबूर कर दी जाती है, इसका यहाँ वर्णन है। 'निर्मला' में बेमेल विवाह और दहेज की समस्या से पीड़ित नारी की ट्रेजडी बयान की गयी है। 'रंगभूमि' में इन्दु और राजा महेन्द्र प्रताप के सम्बन्धों के तनाव का वर्णन मिलता है। 'कायाकल्प' में ठाकुर विशालसिंह के बहुविवाहों का वर्णन है। 'कर्मभूमि' में अंग्रेजी सिपाहियों द्वारा किये गये मुन्नी के बलात्कार की घटना का वर्णन है। 'गोदान' में भी गोविन्दी के कष्ट हिन्दू नारी के कष्ट हैं। इसके साथ ही सिलिया चमारिन के रखैल जीवन का वर्णन भी मिलता है। उपन्यासों के अलावा अनेक कहानियों में प्रेमचन्द ने नारियों की पीड़ा का मार्मिक चित्रण किया है। प्रेमचन्द के उपन्यासों और कहानियों में दो तरह की नारियाँ हैं—किसान की पत्नी और मध्यवर्ग की नारियाँ। प्रेमचन्द ने किसान की पत्नी के कष्टों का वर्णन किसानी जीवन की कठोरता के भीतर ही कर दिया है। अलग से उनकी समस्याओं का विवेचन कम स्थानों पर मिलता है। 'स्वामिनी' की रामप्यारी के अकेलेपन का वर्णन अवश्य किया गया है।

समाज में स्त्री और पुरुष की असमानता बचपन से ही शुरू हो जाती है। लड़के के जन्म के अवसर पर उत्सव मनाया जाता है, लड़की अभागिनी मानी जाती है। लड़के को ज्यादा अच्छा खाना-कपड़ा मिलता है, उसे लड़की के मुकाबले ज्यादा स्नेह मिलता है। इस समाज में 'सुभागी' जैसी भाग्यशाली लड़कियाँ कम ही हैं। पिंडदान जैसी धार्मिक क्रियाओं में भी लड़के का होना अनिवार्य है। यहाँ तक कि लड़का और लड़की के लिए नैतिकता की कसौटी भी अलग-अलग होती है। 'उद्धार' में प्रेमचन्द ने लिखा है : "बेटों की कुचरित्रता कलंक की बात नहीं समझी जाती। लेकिन लड़की का विवाह तो करना ही पड़ेगा, उससे भागकर कहाँ जाएँगे। अगर विवाह में विलम्ब हुआ और कन्या के पाँव कहीं ऊँचे-नीचे पड़ गए, तो फिर कुटुम्ब की नाक कट गई, वह पतित हो गया, टाट बाहर कर दिया गया।"

स्त्री को स्वतंत्र मनुष्य न मानकर पुरुष की दासी बना देना प्रेमचन्द की दृष्टि में वर्तमान व्यवस्था का बहुत बड़ा दोष है। इससे नारी के जनतान्त्रिक अधिकारों का हनन होता है। 'कुसुम' का एक पात्र कहता है : "स्त्रियों को धर्म और त्याग का पाठ पढ़ा-पढ़ाकर हमने उनके आत्म-सम्मान और आत्मविश्वास दोनों ही का अन्त कर दिया। अगर पुरुष स्त्री का मोहताज नहीं, तो स्त्री भी पुरुष की मोहताज क्यों हो।" इसलिए प्रेमचन्द ने लिखा : "सुखमय दाम्पत्य की नींव अधिकार-साम्य पर ही रखी जा सकती है। इस वैषम्य में प्रेम का निर्वाह हो सकता है, मुझे तो इसमें सन्देह है।"

प्रत्येक मनुष्य की उदारता की परीक्षा उसके घर में होती है। प्रेमचन्द शिवरानी देवी के साथ किस तरह से पेश आते थे, यह शिवरानी देवी की कलम से सुनिए : "उनके दिल में स्त्री जाति के प्रति श्रद्धा थी। वे स्त्रियों को पुरुष से बड़ा समझते थे। अगर मैं गाँव में रहती और शाम को बाहर बैठना चाहती तो मुझे बाहर देखते ही अपने लिए झट दूसरी कुर्सी लाने चले जाते। अगर गर्मी में शाम को वे छत पर होते और मैं भी जा पड़ती तो आप फौरन दूसरी कुर्सी के लिए नीचे चले जाते। अगर वे खाना खाने बैठते तो पानी खुद ले लेते। मेरे लिए भी गिलास में पानी रख देते। मेरी आड़ में जब नौकर न रहता तो अपनी चारपाई बिछाते हुए मेरी भी बिछा देते। अगर मैं घर में अकेली खाना पकाती होती तो उसी जगह चौके के पास वे बैठे रहते। जब मैं खाना पका चुकती, तो मुझे लिए हुए वे अपने कमरे में जाते। मुझे पढ़ने के लिए कोई अच्छी चीज देकर तब आप लिखना शुरू करते। खाना खाते हुए मुझे उनके पास बैठना ही पड़ता। चाहे कोई भी पकाता। उनको अकेले खाना अच्छा न लगता था। वे खाते समय काफी गपशप करते थे। 'लीडर' रोज पढ़कर वे मुझे सुनाते। अगर मैं पास न होती तो मुझे बुला लेते, और उसे पढ़कर, हिन्दी में अनुवाद मुझे सुनाते जिससे मैं अंग्रेजी न जानने की चिन्ता न करूँ।"

प्रेमचन्द परिवार के बड़े भारी पक्षधर थे। उनको नयी शिक्षित महिलाओं की परिवार न बसाने की प्रवृत्ति से चिंता हो रही थी। साथ ही दहेज की समस्या भी कठिन हो रही थी। एक 'दुःखी बाप' को प्रेमचन्द ने सलाह दी, "हमें तो इसका एक ही इलाज नजर आता है और वह यह है कि लड़कियों को अच्छी शिक्षा दी जाए और उन्हें संसार में अपना रास्ता आप बनाने के लिए छोड़ दिया जाए, उसी तरह जैसे हम अपने लड़कों को छोड़ देते हैं। उनको विवाहित देखने का मोह हमें छोड़ देना चाहिए और जैसे युवकों के विषय में हम उनके पथ भ्रष्ट हो जाने की परवाह नहीं करते, उसी प्रकार हमें लड़कियों पर भी विश्वास करना चाहिए। तब यदि वे गृहणी जीवन बसर करना चाहेंगी, तो अपनी इच्छानुसार अपना विवाह कर लेंगी, अन्यथा अविवाहित रहेंगी।" प्रेमचन्द के नारी सौन्दर्य का मानदंड मातृत्व है। उन्होंने नारी के रमणी रूप में नहीं बल्कि माता के रूप में सौन्दर्य देखा है। 'गोदान' की मालती जब तक रमणी रूप में हमारे सामने आती है प्रेमचन्द उस पर व्यंग्य के छींटे कसते रहते हैं, लेकिन जब वह माँ की तरह गोबर के बच्चे की देखभाल करती है तब रचनाकार उसके सौन्दर्य को पूजनीय दृष्टि से उपस्थित करते हैं।

प्रेमचन्द ने अपने युग में प्रचलित नारी विरोधी कानूनों की निन्दा की है। उस युग तक पति की मृत्यु के बाद सम्पत्ति पर पत्नी का अधिकार नहीं रह जाता था। वह सम्पत्ति या तो पुत्रों को मिल जाती थी या संयुक्त परिवार की सम्मिलित संपत्ति बन जाती थी। 'बेटों वाली विधवा' की फूलमती और 'ग़बन' की रतन के जीवन की करुण कहानी में इस नारी विरोधी कानून की भूमिका है। शिवरानी देवी के बहनोई ने दूसरी शादी की और अपनी सम्पत्ति को बच्चों को न देकर

पत्नी को दे दिया। प्रेमचन्द ने उनकी दूरदर्शिता और साहस की तारीफ की। प्रेमचन्द हालाँकि जन जागरण से सुधार करवाना चाहते थे, लेकिन ऐसे कानूनों को भी उचित महत्त्व देते थे।

8
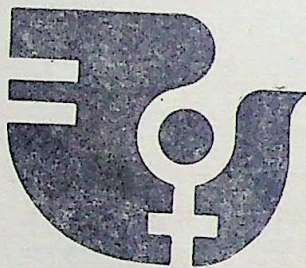
राष्ट्रभाषा और राष्ट्रीय साहित्य

प्रेमचन्द का ध्यान राष्ट्रभाषा और राष्ट्रीय साहित्य की समस्याओं की ओर भी गया। इस समस्या पर विचार करते हुए भी प्रेमचन्द ने राष्ट्रीयता की अवधारणा को सामने रखा। उनके लिए भाषा का सवाल देश की आजादी के सवाल से जुड़ा हुआ है। वह राष्ट्रभाषा के जिस स्वरूप के हिमायती हैं, उसमें राष्ट्रीयता की धारणा का हाथ है।

23 अप्रैल 1934 के 'जागरण' में राष्ट्रभाषा और राष्ट्रीय साहित्य की आवश्यकता पर बल देते हुए उन्होंने लिखा : "किसी राष्ट्र को राष्ट्र बनाने के लिए संस्कृति की समानता जरूरी होती है। भाषा और साहित्य संस्कृति का मुख्य अंग है। जब तक एक भाषा और एक साहित्य न हो, एक राष्ट्र की कल्पना नहीं हो सकती। जब तक कौम में अपने विचारों के फैलाने की कोई एक भाषा न हो, वह कौम नहीं कहला सकती। भारत में कई सम्पन्न प्रान्तीय भाषाओं के होते हुए भी हम जो हिन्दी को राष्ट्रभाषा का स्थान देना चाहते हैं, वह इसलिए कि वह भारत में अधिकतर समझी जाती है।" प्रेमचन्द का मत है कि भारत में प्रांतीयता का बोलबाला इसलिए है, क्योंकि यहाँ का साहित्य प्रान्तीय है। राष्ट्रीयता का प्रचार करने के लिए राष्ट्रीय साहित्य की जरूरत है। उनका मानना है कि जिस दिन हम अपनी राष्ट्रभाषा बना लेंगे उसी दिन हमें स्वराज्य मिल जायेगा। आज तक कोई भी राष्ट्र विदेशी भाषा के बल पर स्वाधीनता प्राप्त नहीं कर सका है। राष्ट्र की बुनियाद तो राष्ट्र की भाषा है।

इसके लिए प्रेमचन्द ने अंग्रेजी भाषा के प्रभुत्व की निन्दा की है। प्रेमचन्द ने राजनीतिक नेताओं की आलोचना करते हुए कहा है कि उन्होंने इस ओर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया है। हमारे नेताओं को नहीं मालूम कि अंग्रेजी राजनीति का, व्यापार का, साम्राज्यवाद का जैसा आतंक हमारे

ऊपर है, उससे कहीं ज्यादा अंग्रेजी भाषा का है। अंग्रेजी भाषा के कारण हमारा शिक्षित समुदाय जनता से दूर हटता जा रहा है और उसमें साम्राज्यवादी संस्कृति आ रही है। हमारे नेताओं ने अंग्रेजी व्यापार, राजनीति और साम्राज्यवाद का तो विरोध किया, पर अंग्रेजी भाषा को गुलामी के तौक की तरह गर्दन में डाले हुए हैं। प्रेमचन्द झुँझलाकर कहते हैं कि "जो लोग जनता की भाषा नहीं बोल सकते, वह जनता के वकील कैसे बन सकते हैं ?"

प्रेमचन्द ने बड़े दुःख के साथ लिखा : "हमारी कौमी सभाओं में सारी कार्यवाही अंग्रेजी में होती हैं, अंग्रेजी में भाषण दिये जाते हैं, प्रस्ताव पेश किये जाते हैं, सारी लिखा पढ़ी अंग्रेजी में होती है, उस संस्था में भी, जो अपने को जनता की संस्था कहती है। यहाँ तक कि सोशलिस्ट और कम्युनिस्ट भी, जो जनता के खासुलखास झंडे-बरदार हैं, सभी कार्यवाही अंग्रेजी में करते हैं।"

साम्प्रदायिक विचारकों ने इस धारणा का प्रचार किया कि हिन्दी हिन्दुओं की और उर्दू मुसलमानों की भाषा है। हिन्दुओं की अपनी अलग और शुद्ध संस्कृति है और मुसलमानों की अलग। हिन्दी और हिन्दुओं का सम्बन्ध संस्कृत साहित्य और संस्कृत भाषा से है। मुसलमानों और उर्दू का सम्बन्ध अरबी-फ़ारसी भाषा और साहित्य से है। अतः हिन्दूवादी और मुस्लिम परक साहित्यकार हिन्दी को संस्कृत के और उर्दू को अरबी-फ़ारसी के शब्दों से भरने लगे। इससे रचनात्मक साहित्य की भाषा आम बोलचाल की भाषा से दूर हटने लगी। प्रेमचन्द भाषा के संस्कृतीकरण और अरबीकरण के विरोधी थे। इसलिए उन्होंने राष्ट्रभाषा के रूप में 'हिन्दुस्तानी' भाषा का आदर्श सामने रखा, जिसमें बोलचाल के शब्द काम में लाए जाएँ, चाहे वे अरबी-फ़ारसी के हों या संस्कृत के। प्रेमचन्द की राजनीति साम्प्रदायिकता विरोधी रही है अतः उनकी भाषा नीति भी साम्प्रदायिकता विरोधी रही। वह मानते हैं कि अगर भारत 'शुद्ध' होता तो उसकी भाषा भी 'शुद्ध' होती। जब देश ही 'शुद्ध' नहीं है तो देश की भाषा शुद्ध कैसे हो सकती है। अतः भाषा के मामले में शुद्धतावादी दृष्टिकोण राष्ट्रविरोधी है, साम्प्रदायिक है। उन्होंने लिखा कि 'भाषा सुन्दरी को कोठरी में बन्द करके आप उसका सतीत्व तो बचा सकते हैं, लेकिन उसके जीवन का मूल्य देकर। उसकी आत्मा स्वयं इतनी बलवान बनाइए, कि वह अपने सतीत्व और स्वास्थ्य दोनों ही की रक्षा कर सके।"

प्रेमचन्द ने राष्ट्रभाषा के निर्माण की प्रक्रिया का विवेचन करते हुए उसकी आवश्यकता पर बल दिया है। साथ ही उन्होंने यह भी लिखा है कि राष्ट्रभाषा स्वतः नहीं बन जाती, उसके निर्माण के लिए हमें अथक प्रयास करना पड़ेगा। उन्होंने लिखा : "हिन्दी ही में ब्रजभाषा, बुन्देलखण्डी, अवधी, मैथिल, भोजपुरी आदि भिन्न-भिन्न शाखाएँ हैं, लेकिन जैसे छोटी-छोटी धाराओं के मिल जाने से एक बड़ा दरिया बन जाता है, जिसमें मिलकर नदियाँ अपने को खो देती हैं, उसी तरह ये सभी प्रान्तीय भाषाएँ हिन्दी की मातहत हो गई हैं और आज उत्तर भारत का एक देहाती भी हिन्दी समझता है और अवसर पड़ने पर बोलता है। लेकिन हमारे मुल्की फैलाव के साथ हमें एक

ऐसी भाषा की जरूरत पड़ गई है, जो सारे हिन्दुस्तान में समझी और बोली जाय, जिसे हम हिन्दी या गुजराती या मराठी या उर्दू न कहकर हिन्दुस्तानी भाषा कह सकें, जिसे हिन्दुस्तान का पढ़ा-बे-पढ़ा आदमी उसी तरह समझे या बोले, जैसे हर एक अंग्रेज या जर्मन या फ्रांसीसी फ्रेंच या जर्मन या अंग्रेजी भाषा बोलता है और समझता है। हम सूबे की भाषाओं के विरोधी नहीं हैं। आप उनमें जितनी उन्नति कर सकें, करें। लेकिन एक कौमी भाषा का मरकजी सहारा लिए बगैर आपके राष्ट्र की जड़ कभी मजबूत नहीं हो सकती।"

प्रेमचन्द के मत में, "हमारी राष्ट्रभाषा तो वही हो सकती है जिसका आधार सर्वसामान्य बोधगम्यता हो—जिसे सब लोग सहज में समझ सकें। यह इस बात की क्यों परवाह करने लगी कि अमुक शब्द इसलिए छोड़ दिया जाना चाहिए कि वह फ़ारसी, अरबी अथवा संस्कृत का है? वह तो केवल यह मानदण्ड अपने सामने रखती है कि जन-साधारण यह शब्द समझ सकते हैं या नहीं। और जन-साधारण में हिन्दू, मुसलमान, पंजाबी, बंगाली, महाराष्ट्रीय और गुजराती सभी सम्मिलित हैं।"

प्रेमचन्द ने 'इन्दौर हिन्दी साहित्य-सम्मेलन' (जून 1935) पर लिखते हुए बताया कि "हिन्दी के पक्ष में इसे चाहे कोई लोग हीनता ही समझें मैं तो इसे सौभाग्य समझता हूँ, कि वह उतनी सम्पन्न की भाषा नहीं, जितना कृषक और मजदूर की है। उतनी तहजीब की भाषा नहीं, जितनी नित्य जीवन की है।"

प्रेमचन्द ने सिर्फ वक्तव्यों के द्वारा ही राष्ट्रभाषा की आवश्यकता पर बल नहीं दिया है बल्कि अपनी रचनाओं में उसका व्यावहारिक रूप भी प्रस्तुत किया है। उनका साहित्य राष्ट्र-भाषा के स्वरूप का आदर्श उदाहरण प्रस्तुत करता है।

प्रेमचन्द एक ऐसी अखिल भारतीय साहित्य संस्था की आवश्यकता बहुत दिनों से महसूस कर रहे थे, जिसमें सभी प्रान्तों के साहित्यकार मिल-बैठकर विचार-विमर्श कर सकें। प्रांतीय भाषाओं के साहित्य को हिन्दी में अनूदित करके प्रस्तुत करना और उसे प्रचारित करना भी आवश्यक है। हिन्दी साहित्य सम्मेलन के इन्दौर अधिवेशन ने भारतीय साहित्य परिषद् की स्थापना का प्रस्ताव पास किया। प्रेमचन्द ने इसका जी खोलकर स्वागत किया। अपने प्रिय पत्र 'हंस' को परिषद् का मुख पत्र बनाने के लिए वह राजी हो गये। अक्टूबर (1935) से 'हंस' प्रान्तीय भाषाओं के साहित्य में समन्वय के लिए प्रकाशित होने लगा। संपादक प्रेमचन्द और कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी बने। इसके लिए संपादकों ने सभी भारतीय साहित्यकारों से पत्र-व्यवहार किया। रवीन्द्रनाथ टैगोर और शरच्चन्द्र ने इसे खूब पसन्द किया। नये अंक पर गांधी जी का संदेश छपा: " 'हंस' हिन्दुस्तान भर में अनोखा प्रयत्न है। यदि हिन्दी अथवा हिन्दुस्तानी को राष्ट्रभाषा बनाना है तो ऐसे मासिक की आवश्यकता है। प्रत्येक प्रान्त की भाषा में जो लेख लिए जाते हैं उनका परिचय राष्ट्रभाषा द्वारा सबको मिलना चाहिए। बहुत खुशी की बात है कि अब ऐसा परिचय उसको 'हंस' द्वारा

प्रतिमाह आधे रुपये में मिल जाएगा।"

इसी समय प्रेमचन्द ने निगम को पत्र में लिखा कि हम अंग्रेजी, जर्मन और फ्रेंच के साहित्य से तो वाकिफ हैं लेकिन "हिन्दुस्तान में सूबेजाती ज़बानों में कौन-से बाक़माल पड़े हुए हैं, इसकी हमें बिलकुल खबर नहीं। इसी बेगानी को दूर करने और हिन्दुस्तान भर के अदीबों में बिरादराना रब्त-जब्त पैदा करने और उन्हें एक-दूसरे की तसानीफ से रूशनास कराने के लिए एक अंजुमन की बुनियाद डाली जा रही है जिसका पहला कदम इस रसाले को शाया करना है, जिससे पब्लिक में कौमी अदब का एहसास हो जाए और अदबी खादिमों को कम-से-कम सारे हिन्दुस्तान में कबूलियत और शोहरत हासिल हो और दूसरे सूबे के लोग भी इनके खयालात और कैफियत से फैजयाब हों।"

पंडित जवाहर लाल नेहरू ने 'विशाल भारत' में 'हमारा साहित्य' शीर्षक से लेख लिखा। उन्होंने सुना कि हिन्दी में शेक्सपियर और शा जैसी प्रतिभाएँ हैं। इसलिए उन्होंने हिन्दी साहित्य पढ़ा और निराश हुए। प्रेमचन्द ने इसका कारण एक तो पराधीनता को बताया, "दूसरे, हमारा शिक्षित समुदाय हिन्दी-साहित्य से कोई सरोकार नहीं रखना चाहता, तो साहित्य में प्रगति और स्फूर्ति कहाँ से आये? और अब जीवन के किसी क्षेत्र में हम योरोप से मुकाबला करने का दावा नहीं कर सकते—हमारे लेनिन और ट्राट्स्की और नीत्शे और हिटलर अभी अवतरित नहीं हुए—तो साहित्य में वह तेजस्विता कहाँ से आ जाएगी।" इस बहाने प्रेमचन्द ने उन राष्ट्रीय नेताओं का ध्यान हिन्दी साहित्य की सेवा की ओर दिलाया है।

प्रेमचन्द ने पराधीन भारत में साहित्य के स्वरूप और उद्देश्य पर नये ढंग से विचार किया। प्रेमचन्द कला को उपयोगिता के मानदंड से जाँचते हैं। 22 जनवरी 1930 को श्री हरिहर नाथ को एक पत्र में उन्होंने लिखा: "मेरा खयाल है कि साहित्यकार का सबसे बड़ा उद्देश्य उन्नयन है, ऊपर उठाना। हमारे यथार्थवाद को भी यह बात आँख से ओझल न करनी चाहिए। मैं चाहता हूँ कि आप 'मनुष्यों' की सृष्टि करें, साहसी, ईमानदार, स्वतंत्रचेता मनुष्य, जान पर खेलने वाले, जोखिम उठाने वाले मनुष्य, ऊँचे आदर्शों वाले मनुष्य। आज इसी की जरूरत है।"

प्रेमचन्द अपने को 'आदर्शवादी' लेखक मानते हैं। आदर्शवाद से उनका तात्पर्य भाववाद न होकर लक्ष्यवाद रहा है। वह चाहते हैं कि साहित्य और समाज का लक्ष्य ऊँचा हो। ऊँचे लक्ष्य के बिना बड़ा काम नहीं हो सकता। इस आदर्श आकांक्षा के साथ प्रेमचन्द साहित्य को जनता के जीवन से जोड़ना चाहते हैं। वह मानते हैं कि "साहित्य ही सच्चा इतिहास है, क्योंकि उसमें अपने देश और काल का जैसा चित्र होता है वैसा कोरे इतिहास में नहीं हो सकता। साहित्य में यह ऐतिहासिक सत्य तभी आ सकता है जब रचना की आधार भूमि यथार्थवादी हो। वह आदर्श और यथार्थ के मेल को वांछित मानते हैं, जिसे उन्होंने "आदर्शोन्मुख यथार्थवाद" की संज्ञा दी है।

3 सितम्बर (1929) को प्रेमचन्द ने श्री केशोराम सब्बरवाल को एक पत्र लिखा। इसमें उन्होंने लिखा कि "...हो सकता है, कि आपको उनकी (प्रेमचन्द की कहानियों की) सोद्देश्यता

न अच्छी लगी हो, मगर हिन्दुस्तान कला के सर्वोच्च शिखरों पर नहीं पहुँच सकता जब तक कि वह विदेशी दासता के जुए के नीचे कराह रहा है। यहीं एक पराधीन देश का साहित्य एक स्वाधीन देश के साहित्य से अलग दिखाई देने लगता है। हमारी सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियाँ हमें विवश करती हैं कि जहाँ भी हमें अवसर मिले, हम लोगों को शिक्षा दें। भावना जितनी ही प्रबल होती है, कृति उतनी ही शिक्षापरक हो जाती है।"

प्रेमचन्द मानते हैं कि देश में जब कोई उथल-पुथल होती है या सामाजिक-राजनीतिक आन्दोलन उठ खड़ा होता है तो आज का साहित्यकार उससे असम्पृक्त नहीं रह सकता। उसकी विशाल आत्मा अपने देश बन्धुओं के कष्टों से विकल हो उठती है। यह विकलता सिर्फ ध्वंस के लिए ही नहीं होती, निर्माण के लिए भी होती है। "मकान गिराने वाला इंजीनियर नहीं कहलाता। इंजीनियर तो निर्माण करता है।" साहित्यकार मनुष्य की आत्मा का इंजीनियर होता है।

प्रथम अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ के अध्यक्ष पद से भाषण देते हुए प्रेमचन्द ने 'साहित्य का उद्देश्य' इन शब्दों में सूत्रबद्ध किया है: "साहित्य का लक्ष्य केवल महफिल सजाना और मनोरंजन का सामान जुटाना नहीं है—उसका दरजा इतना न गिराइये। वह देशभक्ति और राजनीति के पीछे चलने वाली सचाई भी नहीं, बल्कि उनके आगे मशाल दिखाती हुई चलने वाली सच्चाई है।"

9
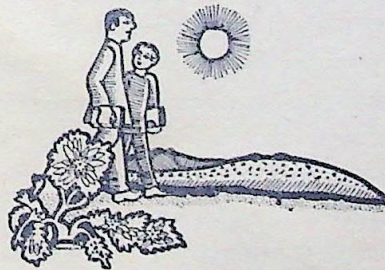
पत्रकारिता : 'हंस' और 'जागरण'

प्रेमचन्द 1920 के आसपास से प्रेस खरीदने का प्रयास कर रहे थे, ताकि सरकारी नौकरी से त्यागपत्र देकर स्वतंत्र पत्रकार का जीवन व्यतीत कर सकें। प्रेमचन्द के लेखन की शुरुआत उर्दू के प्रसिद्ध पत्र 'जमाना' से हुई। बीच में प्रेमचन्द 'अदीब' के सम्पादक भी बनने वाले थे, लेकिन सरकारी नौकरी से त्याग पत्र देना उन्हें उस समय उचित नहीं लगा। असहयोग आन्दोलन के दिनों में प्रेमचन्द ने सरकारी नौकरी से त्यागपत्र दे दिया। 1922 में उन्होंने हिन्दी पत्रिका 'मर्यादा' का सम्पादन किया। 'मर्यादा' के सम्पादक बाबू सम्पूर्णानन्द उन दिनों जेल चले गये थे। प्रेमचन्द ने उस दौरान 'मर्यादा' को संभाला। 1923 ई० में उन्होंने बनारस में सरस्वती प्रेस की स्थापना की।

1927 ई० में प्रेमचन्द कृष्णबिहारी मिश्र के साथ 'माधुरी' के संपादक बने। 'माधुरी' उस युग की महत्वपूर्ण साहित्यिक-सांस्कृतिक पत्रिका थी। प्रेमचन्द से पहले इसका संपादन दुलारेलाल भार्गव किया करते थे। उस समय 'माधुरी' की सम्पादकीय टिप्पणियों में शुद्धि आन्दोलन और हिन्दू-संगठन की आवश्यकता पर विशेष सामग्री प्रकाशित होती रहती थी। 'माधुरी' में अन्य सामाजिक और साहित्यिक विषयों में तो प्रेमचन्द भी कोई परिवर्तन नहीं कर पाये, लेकिन उसे उन्होंने साम्प्रदायिकता विरोधी पत्रिका अवश्य बना दी। इसका सम्पादन करते हुए ही प्रेमचन्द ने एक स्वतंत्र पत्रिका की आवश्यकता महसूस की, जिसमें वह अपने राजनीतिक-सामाजिक विचारों को खुलकर व्यक्त कर सकें।

मई 1927 की 'माधुरी' के एक सम्पादकीय में प्रेमचन्द ने 'नेता और जनता' शीर्षक टिप्पणी लिखी। उसमें उन्होंने तत्कालीन नेताओं की समीक्षा करते हुए लिखा :

"अब भी हमारे कितने ही लीडर ऐसे हैं जो महत्वपूर्ण सामाजिक प्रश्नों पर अपनी जबान

खोलने का साहस नहीं रखते, क्योंकि वे वास्तव में लीडर नहीं, बल्कि जनता की रुचि के अनुगामी हैं। उनका अस्तित्व जनता की अंध भक्ति, दुर्बलता और मूर्खता पर निर्भर है, और वे कोई ऐसी बात नहीं कह सकते जिससे जनता उन्हें अपने से भिन्न समझने लगे।···हमारे महामना शर्मा जी दिल में चाहे विधवा-विवाह को वर्तमान सामाजिक परिस्थिति में आवश्यक समझें पर जुबान से नहीं कह सकते, क्योंकि उन पर से जनता का विश्वास उठ जायेगा। जनता उन्हें अपने से पृथक समझने लगेगी। बदकिस्मती से हमारे अधिकांश नेताओं में यह दुर्बलता बद्धमूल हो गई है। ऐसे नेताओं से किसी कठिन अवसर पर भलाई की आशा नहीं की जा सकती।" यह टिप्पणी 'हंस' और 'जागरण' की जुझारू टिप्पणियों की पूर्व-पीठिका है।

प्रेमचन्द के लेखन की शुरुआत वैचारिक गद्य से होती है और यूँ भी वह अपने सर्जनात्मक साहित्य में विचारों का प्रचार करते रहे हैं। समय और संघर्ष से उनमें वैचारिक प्रौढ़ता और विचार-बहुलता आई। इस वैचारिक दवाव के कारण उन्होंने 'हंस' निकाला और कुछ दिनों तक साप्ताहिक 'जागरण' भी निकाला। बहुत दिनों तक तो प्रेमचन्द सर्जनात्मक साहित्य में विचारों का प्रचार करके और अन्य पत्र-पत्रिकाओं में लेख लिखकर इस वैचारिक दबाव से मुक्त होते रहे। अंत में जब उनके विचार इतने विविध और मौलिक रूप से उभरने लगे, जब अन्य पत्र-पत्रिकाओं की नीतियों से उनका वैचारिक विरोध स्पष्ट होता गया, और जब सर्जनात्मक साहित्य इस वैचारिक दवाव को वहन करने में असमर्थ दीख पड़ने लगा, तब प्रेमचन्द ने स्वयं पत्र निकाला।

31 दिसम्बर 1929 ई० को कांग्रेस ने 'पूर्ण स्वराज्य' का नारा दिया। 26 जनवरी 1930 के दिन सारे देश ने 'स्वाधीनता-दिवस' मनाया। फरवरी 1930 में साबरमती में कांग्रेस कमेटी की बैठक हुई। कमेटी ने गांधी जी को सविनय अवज्ञा आन्दोलन के नेतृत्व और संचालन का भार सौंपा। इसके बाद नमक कानून तोड़ा गया। 7 अप्रैल को गांधी जी ने डाँडी में कानून तोड़ा। एक तरह से असहयोग आन्दोलन के बाद दूसरे बड़े राष्ट्रीय जन आन्दोलन की शुरुआत हुई। प्रेमचन्द ने इस आन्दोलन में सहयोग देने के लिए एक पत्र निकाला। जयशंकर प्रसाद ने उसका नाम सुझाया 'हंस'। प्रेमचन्द लखनऊ में थे, 'हंस' सरस्वती प्रेस, बनारस से छपने लगा।

'हंस' का पहला अंक मार्च 1930 को प्रकाशित हुआ। इसके संपादकीय में प्रेमचन्द ने लिखा : "'हंस' के लिए यह परम सौभाग्य की बात है कि उसका जन्म ऐसे शुभ अवसर पर हुआ है, जब भारत में एक नये युग का आगमन हो रहा है, जब भारत पराधीनता की बेड़ियों से निकलने के लिए तड़पने लगा है। इस तिथि की यादगार एक दिन देश में कोई विशाल रूप धारण करेगी।··· 'हंस' भी मानसरोवर की शांति छोड़कर अपनी नन्ही-सी चोंच में चुटकी भर मिट्टी लिए हुए, समुद्र पाटने—आजादी की जंग में योग देने—चला है।"

'हंस' मासिक पत्र था। प्रेमचन्द के मन में एक साप्ताहिक पत्र निकालने की भी इच्छा हुई। विनोदशंकर व्यास उस समय पाक्षिक 'जागरण' निकाल रहे थे। प्रेमचन्द ने व्यास जी से

'जागरण' को ले लिया और उसे साप्ताहिक पत्र के रूप में निकाला। प्रेमचन्द ने 22 अगस्त 1932 से 21 मई 1934 तक 'जागरण' को प्रकाशित किया। सरकार ने दो बार 'जागरण' से जमानत माँगी। उधर आर्थिक कष्ट बढ़ रहे थे। प्रेमचन्द ने तंग आकर मीर के शब्दों में यह कहते हुए इसे बन्द कर दिया :

अब तो जाते हैं मैकदे से मीर
फिर मिलेंगे अगर खुदा लाया।

प्रेमचन्द ने इन पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से अपने समकालीन बुद्धिजीवियों से राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर बहस की है। कविताओं और कहानियों के साथ-साथ उसमें वर्तमान राजनीति की चर्चा अधिक होती थी। इससे प्रेमचन्द की सामयिक सजगता ही प्रकट नहीं होती, बल्कि एक गंभीर समाज वैज्ञानिक की तस्वीर भी उभरती है। अपने काल की घटनाओं का ऐसा 'मर्मी आलोचक' निराला के सिवा हिन्दी का दूसरा कोई साहित्यकार नहीं था। इस विचार प्रधान साहित्य का प्रभाव रचनाओं पर भी पड़ा। इससे रचनाओं का प्रचार पक्ष पृष्ठ भूमि में चला गया। 'गोदान', 'पूस की रात', 'ईदगाह' और 'कफन' जैसी कलात्मक रचनाओं के पीछे 'हंस' और 'जागरण' की जुझारू पत्रकारिता रही है।

प्रेमचन्द महात्मा गांधी और पंडित जवाहरलाल नेहरू जैसे नेताओं से शिष्य के रूप में न मिलकर बहस करते हुए बुद्धिजीवी के रूप में मिलते हैं। अपने युग के अन्य गांधीवादी साहित्यकारों और बुद्धिजीवियों से प्रेमचन्द इस अर्थ में अलग थे कि जहाँ अन्य लोगों ने गांधी जी के सामने विचार करना ही बन्द कर दिया, वहाँ प्रेमचन्द हमेशा सजग चिंतक बने रहे। प्रेमचन्द 'हंस' के पाठकों को स्वाधीनता आन्दोलन के कार्यकर्ता बनाना चाहते थे। देश-विदेश की वास्तविक परिस्थितियों से अवगत करवाकर वह पाठकों के बोध पक्ष को समृद्ध करना चाहते थे। उस युग की प्रत्येक महत्वपूर्ण घटना पर प्रेमचन्द ने 'हंस' और 'जागरण' में टिप्पणी लिखी हैं।

स्वाधीनता आन्दोलन जब बढ़ने लगा तो सरकारी दमन भी बढ़ने लगा। इस दमन का एक रूप 'प्रेस आर्डिनेंस' था। 26 अक्टूबर 1932 के 'जागरण' में प्रकाशित 'उसका अंत' नामक कहानी के कारण प्रेस और पत्र से दो हजार रुपये की जमानत माँगी गई। प्रेमचन्द ने जैनेन्द्र कुमार को लिखा :

"बहुत परेशान हुआ, भागा हुआ लखनऊ पहुँचा। वहाँ चीफ सैक्रेटरी से मिलकर कहानी का आशय समझाया। और भी अपनी लायल्टी के प्रमाण दिये। अब आशा है, जमानत मंसूख हो जायगी। जरा-जरा सी बात में गर्दन पर छुरी चल जाती है।"

12 दिसम्बर, 1932 को प्रेस सेंसरशिप और जमानत के कारण उत्पन्न परेशानियों का जिक्र करते हुए प्रेमचन्द ने 'जागरण' में लिखा :

"वे जनता के ही नहीं, शासन के भी हितैषी हैं। एक ओर तो वे जनमत की वकालत करते हैं दूसरी ओर जनता में उस नागरिकता का प्रचार करते हैं, जिसे वे राष्ट्र के उत्थान के लिए आवश्यक समझते हैं। उनकी जिम्मेदारी बहुत बड़ी है। अगर वे निर्भीकता से जनमत को प्रकट नहीं करते, तो उनकी आवश्यकता ही जाती रहती है और जनता उन्हें सरकारी पिट्ठू समझकर उपेक्षा करती है। यदि वे साफ़गोई से काम लेते हैं, तो सरकार के कोप भाजन बनते हैं और यह अवस्था केवल इसलिए पैदा हो गयी है कि शासकों और शासितों के स्वार्थ में संघर्ष है। समाचार-पत्रों की हैसियत शासितों के वकील की है।"

प्रेमचन्द ने 'हंस' के अनेक विशेषांक निकाले, उनमें से आत्मकथा विशेषांक बहुत चर्चित हुआ। 'भारत' के संपादक पंडित नन्ददुलारे वाजपेयी ने आरोप लगाया कि इसमें साधारण लेखकों का साधारण जीवन है, अतः इससे किसी महान उद्देश्य की प्राप्ति नहीं होती। प्रेमचन्द ने 'परि-तोष' शीर्षक टिप्पणी में प्रत्युत्तर देते हुए लिखा : "मेरा खयाल है कि मेरे घर के मेहतर के जीवन में भी कुछ ऐसे रहस्य हैं, जिनसे हमें प्रकाश मिल सकता है। अन्तर यही है कि मेहतर में साहित्यिक बुद्धि नहीं, लेखक में विवेचन शक्ति होती है।" इसके अलावा 'काशी अंक' और 'स्वदेशी अंक' की भी बड़ी धूम रही।

अक्टूबर, 1935 से 'हंस' भारतीय साहित्य परिषद् का मुखपत्र हो गया था। प्रेमचन्द उसके इस नये रूप से सन्तुष्ट नहीं थे। 27 फरवरी 1936 को उन्होंने अख्तर हुसैन 'रायपुरी' को पत्र में लिखा :

"अब मेरा किस्सा सुनो। मैं करीब एक माह से बीमार हूँ। मेदे में गेस्ट्रिक अलसर की शिकायत है। मुँह से खून आ जाता है। इसलिए काम कुछ नहीं करता। दवा कर रहा हूँ। मगर अभी तक कोई इफ़ाका नहीं। अगर बच गया तो 'बीसवीं सदी' नाम का रिसाला अपने लोगों के खयालात की इशाअत के लिए ज़रूर निकालूँगा। 'हंस' से तो मेरा ताल्लुक टूट गया। मुफ्त की सरमग्ज़ी, बनियों के साथ काम करके शुक्रिये की जगह यह सिला मिला कि तुमने 'हंस' में ज्यादा रुपया सर्फ़ कर दिया। इसके लिए मैंने दिलोजान से काम किया, बिलकुल अकेला, अपने वक्त और मेहनत का इतना खून किया, इसका किसी ने लिहाज न किया।···मैं भी खुश हूँ। 'हंस' जिस लिटरेचर की इशाअत कर रहा था, वह हमारा लिटरेचर नहीं है, वह तो वही भक्ति वाला महाजनी लिटरेचर है जो हिन्दी ज़बान में काफ़ी है।"

अगस्त 1936 में भदन्त आनन्द कौसल्यायन को पत्र में यही बात लिखी : " 'हंस' सितम्बर से सस्ता साहित्य, देहली से प्रकाशित होगा। मैंने उसके संपादक से इस्तीफा दे दिया है। मैं इधर एक महीने से बीमार हूँ।

अगर अच्छा हो गया तो यहाँ से अपना एक नया पत्र प्रागतिक लेखक संघ की विचारधारा के अनुसार निकालूँगा ।"

इधर प्रेमचन्द 'हंस' से दूर रहे थे, स्वयं बीमार थे, उधर 'हंस' से सेठ गोविन्ददास के नाटक 'स्वातंत्र्य सिद्धान्त' को आपत्तिजनक करार देकर सरकार ने जमानत माँगी। परिषद् ने इस घोषणा के साथ इसे बन्द करने का एलान किया :

हंस से जमानत
एक हजार रुपये नकद
प्रकाशन बन्द

प्रेमचन्द को इससे धक्का लगा। प्रेमचन्द ने पत्र लिखकर परिषद् को अपनी नाराजगी जाहिर की। गांधी जी ने कहा बताते हैं कि "यदि प्रेमचन्द 'हंस' को वापस लेना चाहते हैं तो दे दो।" प्रेमचन्द ने स्वयं जमानत जमा करवायी और उसे प्रकाशित करवाने का प्रवन्ध किया। बीमारी के बावजूद 'हंस' की चिन्ता उन्हें बराबर रही। उन्होंने अपने बड़े बेटे श्रीपतराय को जमानत जमा करवाने के लिए भेजा। निगम और जैनेन्द्र कुमार से बातचीत की और अपनी पत्नी से बोले—"रानी तुम 'हंस' की जमानत जमा करा दो, चाहे मैं रहूँ या ना रहूँ। 'हंस' चलेगा। यदि मैं जिन्दा रहा, तो सब प्रबन्ध कर दूँगा। यदि मैं चल दिया, तो यह मेरी यादगार होगी।" प्रेमचन्द 'हंस' को प्रगतिशील साहित्य का वाहक बनाना चाहते थे, यह उनकी वसीयत थी। 'हंस' उनके बाद में भी चला और उन्हीं के आदर्शों के अनुरूप प्रगतिशील साहित्य का वाहक बना।

सितम्बर 1936 के 'हंस' में प्रेमचन्द का अंतिम निबन्ध 'महाजनी सभ्यता' प्रकाशित हुआ। इसमें उन्होंने विश्व-व्यवस्था का साम्यवादी विश्लेषण प्रस्तुत किया। नयी साम्यवादी समाज व्यवस्था का स्वागत करते हुए प्रेमचन्द ने इसमें लिखा : "धन्य है वह सभ्यता जो मालदारी और व्यक्तिगत सम्पत्ति का अन्त कर रही है, और जल्द या देर से दुनिया उसका पदानुसरण अवश्य करेगी। यह सभ्यता अमुक देश की समाज-रचना अथवा धर्म-मजहब से मेल नहीं खाती या उस वातावरण के अनुकूल नहीं है - यह तर्क नितान्त असंगत है। ईसाई मजहब का पौधा यरूशलम में उगा और सारी दुनिया उसके सौरभ से बस गई। बौद्ध धर्म ने उत्तर भारत में जन्म ग्रहण किया और आधी दुनिया ने उसे गुरुदक्षिणा दी। मानव-स्वभाव अखिल विश्व में एक ही है। छोटी-मोटी बातों में अन्तर हो सकता है, पर मूलस्वरूप की दृष्टि से सम्पूर्ण मानव जाति में कोई भेद नहीं। जो शासन-विधान और समाज-व्यवस्था एक देश के लिए कल्याणकारी है, वह दूसरे देशों के लिए भी हितकर होगी। हाँ, महाजनी सभ्यता और उसके गुर्गे अपनी शक्ति भर उसका विरोध करेंगे, उनके बारे में भ्रमजनक बातों का प्रचार करेंगे, जन साधारण को बहकावेंगे, उनकी आँखों में धूल झोंकेंगे, पर जो सत्य है एक न एक दिन उसकी विजय होगी और अवश्य होगी।"

10

प्रेमचन्द की विरासत

प्रेमचन्द पहले उपन्यासकार हैं जिन्होंने हिंदी उपन्यास को समाज में सम्मानित स्थान दिलाया। अब उपन्यास पढ़ना समय बर्बाद करना नहीं रहा। प्रेमचन्द ने उसे गम्भीर साहित्य-रूप दिया। प्रेमचन्द ने भारतीय साहित्य को पहले किसान चरित्र प्रदान किये। उनसे पूर्व साहित्य में किसानों का प्रवेश निषिद्ध था। अगर कभी उन्हें लाया भी जाता था, तो उनका मजाक उड़ाने के लिए। इस दृष्टि से 'पंच-परमेश्वर' के जुम्मन शेख और अलगू चौधरी पहले सम्पूर्ण किसान चरित्र हैं। उन्होंने किसानों की दैनिक और नीरस जिन्दगी को साहित्य का विषय बनाया।

प्रेमचन्द का स्थान भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की परम्परा में आता है। उनके साहित्य ने हिन्दी साहित्य और भाषा को राष्ट्रीय साहित्य का गौरवशाली पद प्रदान किया। प्रेमचन्द के साहित्य का अखिल भारतीय प्रचार-प्रसार इसका प्रमाण है। उसमें भारतीय समाज की सम्पूर्ण तस्वीर उपस्थित है। यथार्थवादी साहित्य पर लगायी गयी अनेक आपत्तियों का प्रत्युत्तर प्रेमचन्द साहित्य में उपस्थित है।

प्रेमचन्द ने हिन्दी साहित्य की सामन्तवाद विरोधी और साम्राज्यवाद विरोधी परम्परा को आगे बढ़ाया और साहित्य की जनतान्त्रिक परम्परा कायम की। उनके साहित्य में सामन्तवाद विरोध और साम्राज्यवाद विरोध का नकारात्मक ही रूप नहीं है, बल्कि 'स्वाधीन भारत' की एक सम्पूर्ण और संश्लिष्ट परिकल्पना भी है। स्वाधीन भारत की यह परिकल्पना आदर्शवादी नहीं बल्कि यथार्थवादी है। उनके अनुसार शोषणहीन समाज ही स्वाधीन समाज (देश) हो सकता है। सब लोग बराबर हैं, यह अवधारणा उनके लिए सम्पूर्ण विश्व के कल्याण की गारन्टी है। यह किसी समाज को जाँचने का प्रतिमान भी है और इसी प्रतिमान के आधार पर हम समकालीन भारत को जाँच सकते हैं। यह प्रति-

मान प्रेमचन्द जैसे भविष्य दृष्टा रचनाकार की ही देन है। 'ग़बन' का देवीदीन खटिक समकालीन नेताओं को ऐतिहासिक चेतावनी देते हुए कहता है :

"साहब, सच बताओ, जब तुम सुराज का नाम लेते हो उसका कौन सा रूप तुम्हारी आँखों के सामने आता है ? तुम भी बड़ी-बड़ी तलब लोगे, तुम भीअंग्रेजों की तरह बँगलों में रहोगे, पहाड़ों की हवा खाओगे, अंग्रेजी ठाट बनाए घूमोगे, इस सुराज से देश का क्या कल्याण होगा ? तुम्हारी और तुम्हारे भाई-बन्दों की जिन्दगी भले आराम और ठाट से गुजरे, पर देश का तो कोई भला न होगा।···अभी तुम्हारा राज नहीं है, तब तो तुम भोग-विलास पर इतना मरते हो, जब तुम्हारा राज हो जाएगा, तब तो तुम गरीबों को पीसकर पी जाओगे।"

प्रेमचन्द की इस चेतावनी की आज क्या प्रासंगिकता है, इस पर टिप्पणी करने की आवश्यकता नहीं है।

प्रेमचन्द के साहित्य में बीसवीं शताब्दी के शुरू के छत्तीस वर्षों का इतिहास मिल जाता। है यह इतिहास सिर्फ घटना क्रम का ही इतिहास नहीं है बल्कि जनता की चेतना के विकास और परिवर्तन का इतिहास भी है। गरम दलीय नेताओं के भावुक देश प्रेम ('सोज़े वतन'), सुधारवादी आन्दोलनों ('सेवासदन') से होता हुआ असहयोग आन्दोलन, साम्प्रदायिकता, नारी, अछूतों की समस्याओं को छूता हुआ, भारतीय किसान और अन्त में समाजवादी विचार धारा के पक्ष में चला जाता है।

'दुनिया का सबसे अनमोल रतन' (1907ई०) से 'महाजनी सभ्यता' (1936 ई०) तक प्रेमचन्द-साहित्य में भारतीय जनता की चेतना के विकास की प्रक्रिया भी मिलती है और इसी अर्थ में उनका साहित्य इतिहास ग्रन्थों से ज्यादा ऐतिहासिक है।

प्रेमचन्द ने साहित्य को महान मानवीय लक्ष्य से जोड़ा। ऐतिहासिक प्रामाणिकता के साथ-साथ उनका मानव प्रेम रचना को निराली गरिमा प्रदान करता है। प्रेमचन्द यथार्थ की भीषणता का एहसास कराते हुए भी अक्सर अपने सर्जित पात्रों को उस भीषणता का शिकार होने से बचा ले जाते हैं। प्रेमचन्द के इस कलात्मक गुण को कुछ लोगों ने उनका आदर्शवाद कहा है। लेकिन यह रचनाकार का मानव प्रेम है जो मनुष्य को पीड़ा देकर नहीं, उसे पीड़ा से मुक्ति दिलाकर प्रसन्न होता है। यथार्थवादी कहानी 'कफन' में प्रेमचन्द ने घीसू और माधव की ऐसी भव्य दावत इसी कारण की, भले ही इस दावत के मूल में करुणा का स्रोत बह रहा हो।